प्रकाशक
श्री केदारनाथ गुप्त, एम० ए०
प्रोप्राइटर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला
दारागंज, प्रयाग



मुद्रक
सरयू प्रसाद पांडेय 'विशारद'
नागरी प्रेस, दारागंज
प्रयाग।

निवेदन

समय समय पर विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में मेरे जो साहित्या-लोचन-सम्बन्धी लेख छपते रहे हैं उनमें से सोलह लेख वर्तमान संग्रह में संकलित किए गए हैं। प्रत्येक लेख के लिखे जाने या छपने का समय निर्देशित कर दिया गया है। मैं नहीं जानता कि मेरे विचारों से कितने पाठक सहमत होंगे, पर यदि साहित्य-मर्मज्ञ इनमें सहृदयता तथा अन्तरानुभूति का कुछ भी लेश पावेंगे, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

—इलाचन्द्र जोशी

विषय-सूची

साहित्य-सर्जना



साहित्य-कला और विरह

ामार माझारे जे आछे से गो कोन विरहणी नारी ?* (रवीन्द्रनाथ)

सभ्य-संसार के इतिहास में साहित्य की अभिव्यक्ति एक आश्चर्य-य घटना है। इससे यह पता चलता है कि मानव-हृदय प्राथमिक वस्था में कितनी दूर तक विकसित होता हुआ चला गया है। ाथमिक अवस्था में मनुष्य कला से अनभिज्ञ होने पर भी अज्ञात में क प्रकार की निगूढ़ वेदना, अपने अंतस्थल के सुदूर किसी निभृत ांत में, अवश्य ही अनुभव करता था। आज भी हम देखते हैं, फ्रीका तथा आस्ट्रेलिया की जंगली जातियों में और हमारे देश के ील, संथाल आदि लोगों में नाना प्रकार की नृत्य-गीतादि कलाओं उत्सव मनाये जाते हैं। ये उत्सव अंतस्तल की उसी निगूढ़ वेदना ा प्रकाश है। बर्बर लोगों की इन्हीं कलाओं से सभ्य समाज के भीतर ाहित्य, संगीत, चित्र-शिल्प भास्कर्य आदि उन्नत कलाएँ अभिव्यक्त ुई हैं। अब यह देखना चाहिए कि अंतस्तल की जिस निगूढ़तम ेदना से सब कलाएँ उपस्थित हुई हैं, उसका मूल-उत्स कहाँ र है।

अदम्य आत्म-प्रकाश की प्रवृत्ति के कारण विरह का भाव स्फुरित ोता है। कला का मूल यही विश्वव्यापी विरह का भाव है। और ाश्चर्य यह है कि यह विरह आनन्द की ही सृष्टि है। जब आनन्द के

* मेरे भीतर कौन विरहिणी नारी बसी हुई है।

कंपन ने अव्यक्त को द्विधा करके व्यक्त प्रकृति को परिस्फुटित किया तब सृष्टि के रोम-रोम में विरह का भाव व्याप्त हो गया। इसलिए सृष्टि के आदि से अव्यक्त पुरुष और व्यक्त प्रकृति इस पारस्परिक विरह के द्वारा ही आनन्द का रस लूट रहे हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—"उस अनादि अव्यक्त पुरुष को अपने तईं व्यक्त करने की इच्छा हुई; क्योंकि एकत्व में किसी को आनन्द नहीं मिलता, दो होने में ही आनन्द है, द्वैध भाव में ही आनन्द का रस मथित होता है, इसलिए उसने अपने को पुरुष और नारी के रूपों में विभक्त किया। यही कारण है कि पुरुष और नारी एक दूसरे के प्रति इतने प्रबल आकर्षण के साथ मिलित होना चाहते हैं। समस्त शून्य-मण्डल नारीत्व के भाव से भरा हुआ है।" सनातन नारीत्व के इस भाव के कारण ही सृष्टि-जन्य विरह के भाव द्वारा हम आनन्द का अनुभव कर पाते हैं। प्रकृति की शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—इन तन्मात्राओं में से किसी के भी संप्लावन से हमारे हृदय में तीव्र रूप से विरह का भाव जागरित हो उठता है। अन्य समय हम अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों में व्यस्त रहते हैं, और उन कर्मों को ही जीवन का चरम उद्देश्य समझते हुए होते हैं। पर अचानक जब कोई अनुपम रूप हमारे दृष्टिगोचर होता है, या कोई अभिनव गीत हमारे कानों में ध्वनित होता है, तब बिना किसी कारण के हमारा हृदय विकल हो उठता है, और संसार के समस्त विधि-विधान पल भर के लिए हमें अत्यन्त तुच्छ जान पड़ते हैं—हृदय अज्ञात रूप से अपने चिर-प्रियतम से मिलित होने के लिए उत्सुक हो जाता है। कला के भीतर नाना रूपों में मनुष्य इसी विरह का रोना रोने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में वह अपूर्व आनन्द पाता है। साहित्य-कला की अभिव्यक्ति भी इसी मूल-भाव से हुई है। साहित्य का कोई भी ग्रंथ कभी भी देखिये, उसमें नाना चेष्टाओं के भीतर अंत को इसी [illegible] की चेष्टा पाई जायगी। इलियड, ओडेसी, रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों में नाना घटनाओं के भीतर अंत

को वही अनंतकालिक वेदना अपने को प्रकाशित करता है। 'ओडीसी' में युलिसीज़ के अनेकानेक जटिलतापूर्ण असीम साहसिक कार्यों की गति भीतर ही-भीतर अन्तःसलिला नदी की तरह विरह की व्याकुलता प्रकाश करती हुई अनंत की ओर धावित होती है। इस भाव को टेनिसन ने भी अपनी यूलीसीज़ शीर्षक कविता में दर्शाया है। रामायण में स्नेह-प्रेम, सुख-दुख, युद्ध-विग्रह की अनेक जटिलताओं के परे राम और सीता का प्रेम अनन्त के प्रति अपनी विरहांजलि निवेदित करके, सीमा को उल्लंघन करता हुआ, असीम के संधान में चला जाता है। रामायण के कवि के हृदय में अनन्तकालिक विरह की कितनी तीव्र अनुभूति वर्तमान थी, इसका परिचय इसी बात से मिलता है कि लङ्का-विजय के अनन्तर सुकठिन मिलन के बाद भी राम और सीता का चिरविच्छेद संघटित हो जाता। समग्रता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय, तो चिर-सती सीता के पाताल प्रवेश की सार्थकता केवल इसी बात पर है कि वह स्त्री और पुरुष के जन्म जन्मान्तर का विरह प्रस्फुरित करके सृष्टि के केन्द्र में स्थित अनन्तव्यापी विरह की अनुभूति हृदय में जाग्रत कर देता है। अन्यथा सीता-जैसी साध्वी स्त्री का पति के कैसे ही भारी दोष के कारण पाताल-प्रवेश करके सदा के लिए विछिन्न हो जाना बिलकुल असंगत है। पाताल-प्रवेश का यह अर्थ नहीं कि सीता सदा के लिए पति से अलग हो गयी। जिस अभिमान के भाव के कारण उन्होंने पृथ्वी के भीतर प्रवेश किया, उसी अभिमान की प्रेरणा से उनका प्रेम जन्मांतर के लिए प्रेरित होगया। विरह के विस्तार का भाव ही इस रूपक से ध्वनित होता है, क्योंकि विरह के आधार पर ही हम आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। महाभारत के भयङ्कर युद्ध के भीतर जो निष्काम भाव छिपा हुआ है, वह और कुछ नहीं, अनादि पुरुष के मिलन की अपेक्षा में 'शब्द के वेध' से व्यथित हुए व्यक्तियों की त्यागपूर्ण तपस्या ही है। गीता में वर्णित निष्काम धर्म दूसरे ढङ्ग से प्रियतम के विरह में व्याकुल अर्जुन को इसी तपस्या का उपदेश देता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल में कवि ने इस अज्ञात विरह को प्रस्फुरित करने के लिए ही दुष्यन्त को शाप-भ्रष्ट करवाया है। शाप भ्रष्ट होने के कारण ही दुष्यन्त चिरकालिक विरह का तत्व समझ पाते हैं। राजा महल के भीतर सुख से बैठे हुए हैं। चित्त में उनके एक निर्विकार शांति का भाव व्याप्त है। ऐसे समय अन्तःपुर से स्त्री-कण्ठ के निर्गत एक सुमधुर आलाप सुनाई देता है। तत्काल राजा के मन में एक प्रकार की तीव्र उत्सुकता का भाव उच्छ्वसित हो उठता है। अभी-अभी तो चित्त शांत था, तब यह सुमधुर राग क्यों व्याकुलता उपस्थित करता है? "किं नु खलु सुहृज्जनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कंठितोऽस्मि ?" यह अपने हृदय से प्रश्न करते हैं कि प्रियजन के विरह के बिना भी मैं क्यों जबर्दस्ती उत्कंठित हुआ जाता हूं ?" इसके उत्तर में हृदय से यह भावना उत्थित होती है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

रमणीय वस्तु के दर्शन और मधुर शब्द के श्रवण से सुखी लोगों को भी उत्सुक होते हुए देखकर यही समझ में आता है कि उन लोगों को निश्चय ही ऐसे अवसर पर भाव के भीतर अज्ञात रूप से स्थित जन्मांतर के प्रेम का स्मरण हो आता है।

जन्मांतर के इस प्रेम से संबन्ध रखनेवाला प्रियजन का विरह ऐसा [illegible]-पूर्ण तथा अनोखा है कि प्रियजन के मिलन के अवसर पर यह [illegible] होकर प्रतिभात होता है। जिस दिन हमारे मन में आनन्द का आविर्भाव होता है, उस दिन यह व्याकुलता भी बढ़ जाती है। पूर्णिमा की [illegible] ज्योत्स्ना-रात्रि में, शरद् की सुन्दरी संध्या में, फाल्गुन के [illegible] प्रभात में हम प्रबलता से इस अकारण विरह का अनुभव करते हैं। रवीन्द्रनाथ ने इसी प्रकार लिखा है—

पूर्णिमानिशीथे जवे दशदिके परिपूर्ण हासि,
दूरस्मृति कोथा होते बाजाय व्याकुल करा बांसि,
झरे अश्रु राश !

पूर्णिमा की रात्रि में जब सर्वत्र परिपूर्ण उज्ज्वल मुसकान व्याप्त रहती है, तब दूर की स्मृति वंशी में अत्यन्त व्याकुलता-पूर्ण राग बजा देती है, जिसके कारण आँसुओं की झड़ी लग जाती है।

इस कारणहीन विरह-जनित अश्रुओं का उल्लेख टेनिसन ने भी 'प्रिन्सेन्स' नामक काव्य में इस प्रकार किया है—

"मुझे नहीं मालूम कि मेरे इन अकारण अश्रुओं का रहस्य क्या है ? शरत की प्रसन्नता से परिपूर्ण खेतों को देखने और उन दिनों की बात सोचने पर जो सदा के लिए बीत चुके. किसी स्वर्गीय वेदना '(डिवाइन डिस्पेयर ' की गहराई से ये आंसू हृदय में उमड़ कर आंखों में समा जाते हैं।"

इस डिवाइन डिस्पेयर [स्वर्गीय विरह] के भाव के सम्बन्ध में कबीर भी कह गए हैं—

सब रस तांत, रबाब तन, विरह बजावे नित्त।
और न कोई सुन सके, कै सांई कै चित्त॥

दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेमजन्य मिलन और विरह की गाथा से इसी 'नित्त विरह' का भाव स्फुरित होता है। चैतन्य देव के सखी-भाव की लीला पर कौन रसिक जन पागल नहीं हुआ ! इस सखी भाव के मूल में यही प्राथमिक विरह का भाव वर्तमान है। इसी विरह लीला ने अनेक वैष्णव कवियों के मुँह से अभिनव सुन्दर गीत गवाये हैं। चंडीदास, विद्यापति, ज्ञानदास आदि कवियों की कविता में विरह का भाव अपूर्व रूप से स्फुरित हुआ है। कबीर का सखी भाव-भी इसीलिए इतना मनमोहक है। तुलसीदास ने यद्यपि प्रकट रूप से सखी-भाव ग्रहण नहीं किया तथापि राम के प्रति उनकी भक्ति की तीव्रता उसी 'भावस्थिर' विरह की ही द्योतक है। मीरा की पदावलियाँ तो इस भाव

अभिज्ञान शाकुन्तल में कवि ने इस अज्ञात विरह को प्रस्फुरित करने के लिए ही दुष्यन्त को शाप-भ्रष्ट करवाया है। शाप भ्रष्ट होने के कारण ही दुष्यन्त चिरकालिक विरह का तत्व समझ पाते हैं। राजा महल के भीतर सुख से बैठे हुए हैं। चित्त में उनके एक निर्विकार शांति का भाव व्याप्त है। ऐसे समय अन्तःपुर से स्त्री-कण्ठ के निर्गत एक सुमधुर आलाप सुनाई देता है। तत्काल राजा के मन में एक प्रकार की तीव्र उत्सुकता का भाव उच्छ्वसित हो उठता है। अभी-अभी तो चित्त शांत था, तब यह सुमधुर राग क्यों व्याकुलता उपस्थित करता है ? "किं नु खलु सुहृज्जनविरहाद्दतेऽपि बलवदुत्कंठतोऽस्मि ?" यह अपने हृदय से प्रश्न करते हैं कि प्रियजन के विरह के बिना भी मैं क्यों जबर्दस्ती उत्कंठित हुआ जाता हूँ ?" इसके उत्तर में हृदय भावना उत्थित होती है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

रमणीय वस्तु के दर्शन और मधुर शब्द के श्रवण से सुखी को भी उत्सुक होते हुए देखकर यही समझ में आता है कि उन लोगों को निश्चय ही ऐसे अवसर पर भाव के भीतर अज्ञात रूप से स्थित जन्मांतर के प्रेम का स्मरण हो आता है।

जन्मांतर के इस प्रेम से संबन्ध रखनेवाला प्रियजन का विरह ऐसा विरोधाभास-पूर्ण तथा अनोखा है कि प्रियजन के मिलन के अवसर पर वह तीव्रतर होकर प्रतिभात होता है। जिस दिन हमारे मन में आनन्द का आधिक्य होता है, उस दिन वह व्याकुलता भी बढ़ जाती है। पूर्णिमा की आनन्दमयी ज्योत्स्ना-रात्रि में, शरत् की सुन्दरी संध्या में, फाल्गुन के उज्ज्वल प्रभात में हम प्रबलता से इस अकारण विरह का अनुभव करते हैं। रवीन्द्रनाथ ने इसी कारण लिखा है—

पूर्णिमानिशीथे जबे दशदिके परिपूर्ण हासि,
दूरस्मृति कोथा होते बाजाय व्याकुल करा बांसि,
झरे अश्रुराश !

पूर्णिमा की रात्रि में जब सर्वत्र परिपूर्ण उज्ज्वल मुसकान व्याप्त रहती है, तब दूर की स्मृति वंशी में अत्यन्त व्याकुलता-पूर्ण राग बजा देती है, जिसके कारण आँसुओं की झड़ी लग जाती है।

इस कारणहीन विरह-जनित अश्रुओं का उल्लेख टेनिसन ने भी 'प्रिन्सेन्स' नामक काव्य में इस प्रकार किया है—

"मुझे नहीं मालूम कि मेरे इन अकारण अश्रुओं का रहस्य क्या है ! शरत की प्रसन्नता से परिपूर्ण खेतों को देखने और उन दिनों की बात सोचने पर जो सदा के लिए बीत चुके. किसी स्वर्गीय वेदना '(डिवाइन डिस्पेयर' की गहराई से ये आंसू हृदय में उमड़ कर आंखों में समा जाते हैं।"

इस डिवाइन डिस्पेयर [स्वर्गीय विरह] के भाव के सम्बन्ध में कबीर भी कह गए हैं—

सब रग तांत, रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सके, कै सांई कै चित्त॥

दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेमजन्य मिलन और विरह की गाथा से इसी 'नित्त विरह' का भाव स्फुरित होता है। चैतन्य देव के सखी-भाव की लीला पर कौन रसिक जन पागल नहीं हुआ ! इस सखी भाव के मूल में यही प्राथमिक विरह का भाव वर्तमान है। इसी विरह लीला ने अनेक वैष्णव कवियों के मुँह से अभिनव सुन्दर गीत गवाये हैं। चंडीदास, विद्यापति, ज्ञानदास आदि कवियों की कविता में विरह का भाव अपूर्व रूप से स्फुरित हुआ है। कबीर का सखी भाव-भी इसीलिए इतना मनमोहक है। तुलसीदास ने यद्यपि प्रकट रूप से सखी-भाव ग्रहण नहीं किया तथापि राम के प्रति उनकी भक्ति की तीव्रता उसी 'भावस्थिर' विरह की ही द्योतक है। मीरा की पदावलियाँ तो इस भाव

से ओत प्रोत हैं। हमारे वर्तमान कवियों में शुभश्री महादेवी वर्मा की कविता इसी भाव की तीक्ष्ण मार्मिकता के कारण अतलव्यापी विकलता से विह्वल है।

संसार के रात-दिन के झंझटों से तथा शुष्क ज्ञान की आलोचना से हम उकता जाते हैं, पर रूप रस-गंध-गीत का संप्लवन अचानक शून्य के किसी अज्ञात प्रांत से आकर हमें व्याकुल करके जीवन की समग्रता का अनुभव करा देता है, और हम जीवन की तुच्छता से मुक्ति पाकर अनन्त के साथ मिलित होने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। जर्मन कवि ग्येटे ने अपने जगत-विख्यात 'फाउस्ट' नामक ग्रंथ में यही भाव दर्शाया है। फाउस्ट समस्त जीवन दर्शन की आलोचना करके जब यह देखता है कि उसे इस जीवन में अणु मात्र भी सुख नहीं मिला, तो दर्शन को ताक में रखकर वह सुखान्वेषण के लिए मन्त्र सिद्ध के काम में लग जाता है। पर आरम्भ में उससे भी कुछ लाभ न देखकर वह संसार के दुखों का अनुभव करते हुए जीवन से उकता जाता है, और जहर का प्याला लेकर मुह में डालना ही चाहता है कि अचानक दूर बाहर से आते हुए 'मधुरान् शब्दान् निशम्य' वह विह्वल होकर, ठिठककर खड़ा रह जाता है। ईस्टर के दिन मसीहा के जागरण का उत्सव गीत-वाद्य द्वारा मनाया जा रहा है। उत्सव की इस उल्लासमय ध्वनि से उसके हृदय में भक्ति का भाव आनन्द पैदा नहीं करता, पर आनन्द की भूली हुई पुलक पल्लवित स्मृतियां अपनी सुमधुर व्याकुलता से उसे उत्सुक कर देती हैं; और वह ज़हर के प्याले को हटाकर अलग रख देता है। अज्ञात उत्सुकता का यह भाव कोरी भक्ति के भाव से बहुत उन्नत तथा आनन्दमय है। इस उत्सुकता से फाउस्ट जीवन की समग्रता का अनुभव करने के लिए लालायित हो उठता है।

जिस प्रकार 'मधुरान् शब्दान् निशम्य' फाउस्ट पागल होता है, उसी प्रकार 'रम्याणि वीक्ष्य' यक्ष का हृदय चित्रकूट के शिखर पर

प्रकंपित हो उठता है। जब वर्षा का मेघ अपने गम्भीर रूप तथा सुनिविड़ रस से विरही यक्ष को निखिल तत्व के साथ एक करके उसके हृदय में वही चिर-पुरातन वेदना मथित कर देता है। अलकापुरी के आनन्द की स्मृतियों से भाराक्रांत इस यक्ष का विरह कबीर के विरह से बहुत भिन्न नहीं है। भिन्नता जो कुछ है, वह यही कि यक्ष 'रूप' के भीतर विरह का आनन्द प्राप्त करता है और कबीर सीधे 'अपरूप' के लिए व्याकुलता प्रकाश करते हैं। पर जब 'बुंद समाना समुद में' तब रूप अपरूप में ही लीन हो जाता है। इस सम्बन्ध में हम आगे जाकर किसी लेख में विशेष प्रकाश डालेंगे। इस समय हम केवल यही दिखलाना चाहते हैं कि विरह किसी भी रूप में हो, वह सृष्टि के मूल में स्थित विरह का ही प्रतिबिम्ब है।

केवल यही नहीं, संसार के रात-दिन के सुख-दुःख आशा-निराशा स्नेह-प्रेम, कलह-द्वन्द्व के भीतर भी इस विरह का खेल चलता है। कवि इन प्रात्यहिक तुच्छ घटनाओं के प्रवाह में बिजली की झलक के समान विरह का आभास क्षण-क्षण भर में पाता रहता है, और उसे खंड कविता, नाटक, उपन्यास तथा छोटी कहानियों के रूप में व्यक्त करता है। अनन्त के प्रति प्रेम का भाव कोई दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं है; वह हृदयानुभूत जीवित सत्य है। उसमें अनादि पुरुष की व्यक्तिगत अनुभूति प्रच्छन्न है। इसलिए जिस बात से मनुष्य के व्यक्तिगत हृदय का सम्बन्ध नहीं रहता, उसमें विरह की व्याकुलता का अनुभव नहीं किया जा सकता। दर्शन के सूत्र में 'अनंत' एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कल्पित तत्व-मात्र है, पर-हृदय की विरहानुभूति में वह तत्व व्यक्तिगत सत्ता से युक्त अनादि पुरुष है। व्यक्तिगत सुख-दुःख का अनुभव करनेवाले पुरुष के साथ ही प्रेम की लीला चल सकती है, किसी शुष्क सिद्धान्त के साथ नहीं। इसलिए जब कोई लेखक मानव की व्यक्तिगत व्यथाओं के प्रकाश के लिए नहीं, पर किसी तत्व की प्रतिष्ठा के लिए कोई नाट्य या उपन्यास रचता है, तब कला की दृष्टि

से उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता क्योंकि कला का विकास विरह के भाव में है और विरह मानवता में व्यक्त होता है।

वेदांतदर्शन काव्य नहीं है। उसके भीतर मनन के योग्य शुष्क ज्ञान है। पर कबीर ने प्रेम-जन्य विरह के माध्यम से उसी दर्शन के तत्व को अपनाकर अपूर्व, अभिनव तथा मायावी कविता की सृष्टि कर डाला है। वैष्णव कवि तथा रवीन्द्रनाथ के भगवत-प्रेम के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इसी प्रकार सामाजिक तथा राजनीतिक तथ्यों का उपयोग भी साहित्य में किया जा सकता है; पर उनमें अनन्त की वेदना का रङ्ग देना पड़ता है। बर्नार्ड शा के सामाजिक तथा राजनीतिक चित्रों का मूल्य साहित्य के विचार से कुछ भी नहीं है, क्योंकि वे कोरे तत्व हैं, और उनमें मानव के हृद्‌गत भावों की वेदना का कुछ भी स्थान नहीं है। पर रवीन्द्रनाथ ने 'विसर्जन', 'मुक्तधारा' आदि नाटकों में इसी प्रकार के चित्रों को अत्यन्त सुन्दर रूपक के भीतर अनन्तकालिक वेदना से रंगकर उन्नत तथा स्थायी साहित्य की सृष्टि कर डाली है। कला के भीतर वर्तमान की समस्याओं को समाचार-पत्रों के संवादों तथा मासिक पत्रों के अस्थायी विवादों की तरह वर्तमान के लिए ही हल करने की चेष्टा करने से कुछ समय के लिए भले ही उसका मूल्य रहे, पर कुछ दिनों के बाद उसकी भित्ति जीर्ण प्राचीर की तरह अवश्य ही दुर्बल पड़ जायगी। पर वर्तमान को अनंत की व्याकुलता के साथ सम्मिलित करने से चिर-काल के लिए उसकी महत्ता बनी रहती है। रामायण की कथा के नित्य-पाठ से हम क्यों नहीं ऊबते? कारण यह है कि उसमें जिस वेदना का प्रकाश पाया जाता है, वह चिर-सत्य है। यही बात साहित्य के अन्य श्रेष्ठ ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। आधुनिक उपन्यासों में वर्तमान के सुख-दुःखों का ही चित्र अङ्कित करने की चेष्टा पायी जाती है। पर उनमें जो उपन्यास स्थायी कहलाने

योग्य होते हैं, उनमें प्रतिदिन की सुख-दुख की वासना को अनन्त के साथ सम्मिलित करने की व्याकुलता प्रकाशित होती है।

हम पहले ही कह आये हैं कि रात-दिन के सुख-दुखों की घटनाओं में पड़ी-पड़ी अनन्त विरह का भाव प्रकाशित होता रहता है। इसी भाव को रवीन्द्रनाथ ने इस प्रकार से व्यक्त किया है—

घरे घरे आजि कत वेदनाय
तोमारि गभीर विरह घनाय,
कत प्रेमे हाय कत वासनाय
कत सुखे दुःखे काजे हे।

"घर-घर में आज कितनी ही वेदनाओं के भीतर, प्रेम के कितने ही प्रयोगों तथा कितनी ही वासनाओं में, सुख-दुःख की कितनी ही घटनाओं में, तुम्हारा ही निगूढ़ विरह घनीभूत होता है।"

किसी अन्य कविता में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"लोग मेरे गीतों के नाना प्रकार के अर्थ करते हैं पर उनका अन्तिम अर्थ तुम्हारे ही प्रति निवेदित होता है।" तुलसीदास ने जब लिखा था कि राम के चरित्र वर्णन के बिना कविता शोभित नहीं होती, तब उन्होंने कुछ अंश में इसी भाव का आभास पाया था। कला की कोई भी रचना हो, उसका अंतिम अर्थ यदि अज्ञात रूप से अनंत के प्रति धावित नहीं होता, तो वह कभी स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकती। अनन्त की वेदना की अनुभूति से आनन्द का अनुभव कराना ही साहित्य का का मूल उद्देश्य है।

(मार्च, १९२७)

कला और नीति

कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने से हमें आनन्द प्राप्त होता है; पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रभात की उज्ज्वलता और सन्ध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है; पर उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती, और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है। कारण आनन्द का भाव समस्त लौकिक शिक्षा तथा व्यवहार से अतीत है। उसमें कोई बहस नहीं चल सकती। हमें आनंद क्यों मिलता है, इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता। वह केवल अनुभव ही किया जा सकता है। "ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतर्गत ही भावै।" आनंद का भाव वाणी और मन की पहुँच के बिलकुल अतीत है। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" पर नीति का सम्बन्ध चेतन मन के साथ है। चेतन मन बिना आलोचना के आनंद के सहज भाव को ग्रहण नहीं करना चाहता। वह पोथी पढ़-पढ़कर 'पंडिताई' में मस्त रहता है। सहज प्रेम के 'ढाई अच्छर' से उसकी तृप्ति नहीं होती। वह कविता पढ़कर इस बात की खोज में लग जाता है कि इसमें अर्थनीति, राजनीति, राष्ट्रतत्व, भूतत्व, जीवतत्व अथवा और कोई तत्व है या नहीं। वह यह नहीं समझना चाहता कि इस कविता में आनन्द का जो अमिश्रित रस है, उसके सामने किसी भी तत्व का कोई मूल्य नहीं, पर जो लोग इस दुष्ट समालोचक मन को दमन करने में समर्थ होते हैं, वे कला के 'आनन्दरूपममृतम्' का अनुभव कर लेते हैं। उपनिषदों में हमारे भीतर पाँच पृथक्-पृथक कोषों का अवस्थान बतलाया गया है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनंदमय कोष। अनंदमय कोष के संस्थान

के लिए हमें अर्थनीति का आवश्यकता होती है। प्राणमय कोष की पुष्टि के लिए धर्मनीति की मनोमय कोष के लिए कामनीति की, और विज्ञानमय कोष के लिए वैज्ञानिक नीति की। पर जब इन सब कोषों की स्थिति को पार करके मनुष्य आनन्दमय कोष के द्वार खटखटाता है तो वहाँ सब प्रकार की नीति तथा नियमों के गट्ठर को फेंककर भीतर प्रवेश करना पड़ता है। वहाँ यदि नीति किसी उपाय से घुस भी गयी, तो उसे इच्छा के शासन में वेष बदलकर दुबके हुए बैठना पड़ता है। लैकिक तथा प्राकृतिक बंधनों की अवज्ञा करने वाली इस सर्वजयी इच्छा महारानी के आनन्दमय दरबार में नैतिक शासन का काम नहीं है, वहाँ सहज प्रेम का कारोबार है। वहाँ इस प्रेम के बंधन में बँधकर पाप और पुण्य भाई-भाई की तरह एक दूसरे के गले मिलते हैं।

नीति! इस विपुल सृष्टि के मूल में क्या नीति है! क्या प्रयोजन है! क्या तत्व है! प्रतिदिन असंख्य प्राणी विनाश को प्राप्त हो रहे हैं, असंख्य प्राणी उत्पन्न होते जाते हैं; उत्पन्न होकर फिर अपने प्रेम घृणा, सुख-दुख, हँसी रुलाई का चक्र पूरा करके अनन्त में विलीन हो रहे हैं। इस समस्त चक्र का अर्थ ही क्या है! अर्थ कुछ भी नहीं; यह केवल भूमा के सहज आनन्द की लीला है।

विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति, तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक मायाचक्र में हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौंदर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।

हिन्दी-साहित्य के वर्तमान समालोचक जब तक कला की किसी रचना में कोई तत्व नहीं पाते, तब तक उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करने में अपना अपमान समझते हैं। जिन रचनाओं की वे प्रशंसा करते हैं, उनकी विशेषता के सम्बन्ध में यदि उनसे पूछा जाय, तो वे उत्तर

देते हैं, अमुक रचना में किसानों की दुर्दशा का प्रश्न हल किया गया है, अमुक ग्रंथ में राष्ट्रतत्व की व्याख्या बहुत अच्छी तरह की गयी है, अमुक ग्रंथ में हमारे सामाजिक पतन पर विचार किया गया है। यह हमारे समालोचकों के कला-सम्बन्धी विचारों के आदर्शों का नमूना है! इन आदर्शों के आधार पर कला की श्रेष्टता का विचार करने से साहित्य में हीनता उपस्थित होती है।

रामायण के मूल आदर्श के भीतर हमको कौन सा नैतिक तत्व प्राप्त होता है? कुछ भी नहीं। उसके भीतर केवल राम की विपुल प्रतिभा की स्वाधीन इच्छा का लीलामय चक्र, विस्तृत रूप से अत्यन्त सुन्दरता के साथ, चित्रित हुआ है। रामायण निस्सन्देह वृहत् ग्रंथ है, और उसके विस्तृत क्षेत्र में सहस्त्रों प्रकार के नैतिक उपदेश स्थान २ पर ढूढ़ने से मिल सकते हैं। पर इस प्रकार खंड-खंड रूप से इस महाकाव्य को विभक्त करने से उसकी अखंड, वास्तविक तथा मूल सत्ता का नाश हो जाता है। यदि उसकी वास्तविक श्रेष्ठता का कारण हमें मालूम करना है, तो हमें उसकी समग्रता पर ध्यान देना होगा। उसके मूल आदर्श पर विचार करना पड़ेगा। रामायण से यदि हमें केवल यही तत्व पाकर सन्तोष करना पड़े कि उसमें पितृ-भक्ति, भ्रातृ-स्नेह तथा पातिव्रत्य का उपदेश दिया गया है, तो यह महाकाव्य अपनी आनन्दोत्पादिनी महत्ता को खोकर एक अत्यन्त क्षुद्र नीति ग्रंथ में परिणत हो जाता है! ऐसे उपदेश हमें सहस्त्रों साधारण नैतिक श्लोकों तथा प्रवचनों से रात-दिन मिलते रहते हैं। तब इस काव्य में विशेषता क्या है? इसकी कथा सहस्त्रों वर्षों से जनता के हृदयों में अखंड रूप से क्यों विराजती आई है? कारण वही है, जो हम पहले बतला आए हैं। अनादि पुरुष की 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा की तरह प्रतिभा भी सृजन का कार्य करती है। जिस प्रकार सृष्टिकर्ता के उपदेश का रहस्य कुछ न जानने पर भी हमें उसकी माया के खेल में आनन्द आता है, उसी प्रकार प्रतिभा की स्वाधीन इच्छामयी उद्दाम प्रवृत्ति की सर्जना का

अभिनव विलास देखकर, उसका मूल उद्देश्य न समझने पर भी, हमें सुख प्राप्त होता है। राम की प्रतिभा अपूर्व तथा सुविस्तृत थी। राम तत्काल वन गमन के लिए क्यों तत्पर हो गये? पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए उन्होंने ऐसा नहीं किया। वह पिता की इच्छा भली-भाँति जानते थे। वह जानते थे, पिता उन्हें वन भेजना नहीं चाहते और यथाशक्ति उन्हें उनके ऐसा करने से रोकेंगे। पर प्रतिभा किसी भी बात पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से विचार करके बाल की खाल निकालना नहीं चाहती। इसीलिए लोग उसका इतना सम्मान करते हैं। वह एक झलक में समस्त स्थिति को समझकर अपना कर्तव्य निर्धारण कर लेती है। अंगरेजी में जिसे 'एग्जाल्टेड स्टेट आफ माइन्ड' मन की उन्नत अवस्था) कहते हैं, राम की मानसिक स्थिति सर्वदा, सब समय वैसी ही रहती थी। उनकी प्रतिभा की विपुलता अपने आप में आबद्ध न होकर प्रतिक्षण नाना रूपों में, नाना क्षेत्रों में; अपने को विस्तारित करने के लिए उन्मुख रहा करती थी। उसकी गति प्रतिक्षण वर्तमान को भेदकर सुदूर भविष्य की ओर प्रवाहित होती रहती थी। पति, पत्नी-पिता-पुत्र तथा भाई-भाई के बीच तुच्छ स्वार्थ की छीना-झपटी की अत्यन्त हास्यकर तथा नीच प्रवृत्ति के प्रबल प्रकोप की आशंका करके उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता तथा वज्र-कठिन दृढ़ता के साथ महत् त्याग स्वीकार किया और अपने गृह में घनीभूत स्वार्थ-भाव को, त्याग के करुणा-विगलित रस से बहाकर, साफ कर दिया। उन्होंने पिता का प्रण निभाया, इस बात पर हमें उतनी श्रद्धा नहीं होती, जितनी इस बात पर विचार करने से कि उन्होंने इन स्वार्थ-मग्न संसार के प्रतिदिन के व्यवहार की यवनिका भेदकर सुदूर अनन्त की ओर अपनी प्रतिभा की सुतीक्ष्ण दृष्टि प्रेरित की। उनकी इस इच्छा-शक्ति के वेग की प्रबलता के कारण ही हमें इतना आनन्द प्राप्त होता है, और हृदय बारम्बार संभ्रम तथा श्रद्धा के साथ उनके पैरों तले पतित होना चाहता है।

यदि कोरा नीति के आधार पर ही समस्त कार्यों का निधारण करना

हो, तो राम का वन-गमन अनीतिमूलक भी कहा जा सकता है। उनके वन-गमन से उनकी प्रजा को कितना कष्ट उठाना पड़ा, इसका उल्लेख रामायण में ही है। उनके पिता की मृत्यु का कारण भी यही था। भरत को सुख-भोग की जगह तपस्या करना पड़ा। यह सब परिणाम समझकर ही राम वन गये थे। वन में उन्हें जाबाल मुनि मिले थे। जाबालि ने उनके वनवास को व्यर्थ साधना बतलाया। उन्होंने कहा कि तुम्हारी इस साधना की कुछ भी उपयोगिता नहीं। तुम समझते हो कि पिता का प्रण निभाकर मैंने महत् कार्य किया है। पर यदि वास्तव में देखा जाय तो कौन किसका पिता है, कौन किसका भाई? जब तक जीवित रहना है, तब तक मौज करते जाओ, इस भस्मीभूत देह का पुनरागमन कहाँ है? मरने के बाद कौन पिता है, और कौन पुत्र? केवल दुर्बल भावुकता के कारण ही तुमने वन-गमन स्वीकार किया है, और मोहांधता के कारण इस त्याग को तुम श्रेष्ठ आदर्श समझे बैठे हो।" यदि केवल नीति के ही पीछे लगा जाय, तो जाबालि की यह उक्ति वास्तव में यथार्थ ज्ञात पड़ती है। परलोक को कौन जानता है, इसी जीवन में प्रत्यक्ष में जो निश्चय लाभ होता है, चाणक्य की "यो ध्रुवाणि परित्यज्य" वाली नीति के अनुसार वही श्रेष्ठ है। और "आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि" वाली उक्ति से सभी परिचित हैं। अपना स्वार्थ ही कोरा नीति की दृष्टि से सबसे बड़ी बात है। पर हम पहले ही कह आये हैं कि प्रबल प्रतिभा का संप्लवन नैतिक तथा नैयायिक उक्तियों को ग्रहण नहीं करता। अकारण ही अपने को प्लावित करने में उसे आनन्द मिलता है। राम जानते थे कि उनके वन-वास की सार्थकता नहीं है; पर उनकी प्रतिभा ने यही दिखलाना चाहा कि उनकी आत्मा अनन्त की विपुलता से पागल है, और अपने क्षुद्र परिवेष्टन के भीतर बन्द नहीं रहना चाहती। आत्म-प्रकाश का आनन्द इसे ही कहते हैं। यदि नैतिक उपयोगिता का विचार करके उन्होंने वन गमन किया होता, तो यह घटना आज मानव हृदय को

करुणा से इतना द्रवीभूत न करती। कवि के तीव्र आत्मानुभव तथा उसकी कल्पना की वास्तविकता का परिचय हमें यहीं पर मिलता है।

यदि नीति की छोटी-मोटी बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता, तो आज हम महाभारत के समान विपुल काव्य से वंचित रहते। कवि को बात-बात पर सफाई देनी होती कि द्रौपदी के पांच पति क्यों थे! वेदव्यास-जैसे महात्मा का जन्म घृणित व्यभिचार से क्यों हुआ! धृतराष्ट्र और पांडु क्षेत्रज्ञ पुत्र होने पर भी महा गौरवशाली क्यों हुए? कुन्ती कौमार्यावस्था में ही गर्भवती होने पर भी पांडवों की सर्वजन प्रशंसिता माता क्यों हुई? (सूर्य की दुहाई देना वृथा है; विवेचक पाठक जानते हैं कि सूर्य के समान किसी तेजस्वी पुरुष के औरस से ही कर्ण का जन्म हुआ था—सूर्य रूपक-मात्र है) ऐसे असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर महाभारत की कलम लेश-मात्र भी इन कारणों से नहीं हिचकी। कारण स्पष्ट है। कवि यही दिखलाना चाहता है कि इन तुच्छ नैतिक उल्लंघनों से उसके महत् आदर्श पर किञ्चिन्मात्र भी आंच नहीं आ सकती। इस संबन्ध में हम विस्तृत रूप से आगे किसी लेख में विचार करेंगे। यहाँ पर हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि कला का आदर्श नीति बहुत ऊपर उठा हुआ होता है।

कालिदास का मेघदूत क्या नीति सिखाता है? विरह जन्य आनंद की इस रचना का लक्ष्य यदि नीति की ओर होता, तो वह असह्य हो उठती। अलकापुरी के जिस आनंदमय देश की ओर कवि हमें आकर्षित करके ले चलता है, उसके संबंध में हमारे मन में यह प्रश्न बिलकुल ही नहीं उठता कि वहाँ जाकर क्या होगा? किसी नैतिक लाभ के लिए हम अलकापुरी नहीं जाते, हम जाते हैं आनंद की विपुलता का अनुभव करने के लिए। वहां जिस आनन्द का हम अनुभव करते हैं, वह तुच्छ सुख दुख, क्षुधा-तृष्णा तथा पाप पुण्य के अतीत है।

केवल हमारे ही देश में नहीं, पाश्चात्य देशों में भी बहुत से लोग नीति के उपासक हैं। ग्येटे की रचनाओं में नीति की अवहेलना देखकर

कई लोग उन पर बरस पड़े। शेक्सपीयर के नाटकों में से कई समालोचक अपने इच्छानुसार नीति निकालने में व्यस्त रहते हैं। प्रकृति के सच्चे उपासक, प्रसिद्ध फ्रांसीसी चित्रकार मिले की कला के बहुत से आलोचकों ने उसकी राजनीतिक व्याख्यान करने की चेष्टा की थी। वह बात इस प्रकृति के चतुर चितेरे को बहुत बुरी लगी। प्रसिद्ध क्रांतिकारी प्रूधों ने उसे चित्रों के जरिए राजनीतिक प्रश्न हल करने के लिए उसकाया, पर वह इस अयुक्त प्रस्ताव पर सम्मत नहीं हुआ। इससे यह न समझना चाहिए कि वह देश-द्रोही था। राजनीति से देश प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं। सहजप्रेम के साथ नाति का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? मिले स्वयं कृषक का पुत्र था, और किसानों के प्रति उसकी इतनी सहानुभूति थी कि उसके प्रायः सभी चित्रों से कृषक-जीवन की सरलता का सुमधुर परिचय मिलता है। उसके चित्रों की सरलता से मानवात्मा की यातनाओं का आभास अत्यन्त सुन्दर रूप से आंखों में झलकता है, और हृदय में किसानों के प्रति आंतरिक सहानुभूति उमड़ पड़ती है। पर उसका उद्देश्य किसानों की दुर्दशा का चित्र खींचकर तात्कालिक साम्यवाद की राजनीतिक महत्ता 'प्रचार' करने का नहीं था। यही कारण है कि उसके चित्रों ने अमरत्व प्राप्त कर लिया है।

महाकवि ग्येटे को जर्मनी के कई समालोचकों ने इस बात के लिए कोसा था कि वे सदा राजनीति से विमुख रहे हैं। इस पर उन्होंने लूर्डन से कहा था—"जर्मनी मुझे प्राणों से प्यारा है। मुझे बहुधा इस बात पर दुःख होता है कि जर्मन लोग व्यक्तिगत रूप से इतने उन्नत होने पर भी समष्टि के विचार से इतने ओछे हैं। अन्य जाति के लोगों के साथ जर्मन लोगों की तुलना करने से हृदय में व्यथा का भाव उत्पन्न होता है, और इस भाव को मैं किसी भी उपाय से भूलना चाहता हूँ। कला और विज्ञान में मैं इस व्यथाजनक भाव से त्राण पाता हूँ, क्योंकि उनका संबंध समस्त विश्व से है, और उनके आगे राष्ट्रीयता की सीमा

तिरोहित हो जाती है ।" पाठकों को मालूम होगा कि रवीन्द्रनाथ का भी यही मत है। ग्येटे ने किसी अन्य स्थान पर कहा है—'सत्य की इस सरल उक्ति पर लोग विश्वास नहीं करना चाहते कि कला का एक-मात्र उन्नत ध्येय उच्च भाव को प्रतिबिम्बित करना है।' इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यालोचक कार्लाइल जब एक बार बर्लिन गये थे, तो किसी भोज के अवसर पर कुछ लोगों ने ग्येटे पर दोष लगाना आरम्भ किया कि इतने बड़े प्रतिभाशाली कवि होने पर भी उन्होंने धर्मसंबन्धी बातों की अवहेलना की है। कार्लाइल ने उसकी संकीर्णता से कुढ़कर कहा—कभी उस आदमी की कहानी नहीं सुनी जो सूर्य को इस कारण कोसता था कि वह उसकी चुरट जलाने के काम नहीं आता!" मुँहतोड़ जवाब सुनकर किसी के मुँह से एक शब्द न निकला!

सभी जानते हैं कि रूसो नीति के कितने पक्षपाती थे। पर जब वह कला की रचना करने बैठते थे, तब नीति-रीति सब भूल जाते थे। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'ला नूवेल एलोइज' में उनके हृदय की क्षुब्ध वेदना प्रतिबिम्बित हुई है। उसके इस आत्म-प्रकाश की मनोहरता के कारण ही यह ग्रंथ इतना आदरणीय है। सच्चा कलाविद् हृदय की प्रेरणा से ही चित्र खिचता है; न कि बाह्य आवश्यकता के अनुसार!

टाल्सटाय को नीति की छोटी-छोटी बातों का भी बड़ा ख्याल रहता था। यहाँ तक कि अपने 'कला क्या है?' नामक पुस्तक में उन्होंने अनीति-मूलक ग्रंथों की तीव्र निन्दा करके यह मत प्रतिष्ठित किया है कि कला के भीतर नीति का होना परमावश्यक है। उन्होंने जिस समय यह मत प्रचारित किया था, उस समय उन्होंने यह भी लिखा था कि मेरी इस समय से पहले की रचनाएँ दोष-पूर्ण समझी जानी चाहिए।" पर उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'अन्ना कैरेनिना' इसके बाद लिखा गया था। इसके प्रकाशित होने पर लोगों को यह आशंका हुई थी कि उसमें नीति भरी पड़ी होगी। पर उनकी यह आशंका निर्मूल निकली।

टाल्सटाय सच्चे कलाविद् तथा शिल्पी थे। उनका व्यक्तिगत मत चाहे कुछ भी रहा हो, पर उनकी आत्मा में कवि स्वभाव का राज होने के कारण कला की रचना में वह नीति की संकीर्णता घुसेड़कर कला के आदेश को खर्च नहीं कर सकते थे। 'अन्ना कैरेनिना' में किटी के गार्हस्थ्य जीवन की शांत, सुखमय छवि अवश्य हृदय को स्निग्धता पहुँचाती है, पर अभागिनी अन्ना के संघर्षण-क्लिष्ट, 'दुर्नीति-मूलक' जीवन के प्रति प्रत्येक पाठक की आंतरिक समवेदना उमड़ी पड़ती है। और तो क्या, स्वयं ग्रंथकार ने अपनी इच्छा के प्रतिकूल, अपने अनजान में, अंत तक अन्ना के जीवन की 'ट्रेजेडी' के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। आरम्भ में ग्रथकार का प्रगट लक्ष्य किटी के गार्हस्थ्य तथा नीति-अनुमोदित जीवन की स्निग्धता और अन्ना के जटिल तथा नीति विरुद्ध जीवन के बीच अन्तर प्रदर्शित करके एक निश्चित नैतिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित करने का रहा है। पर थोड़ी ही दूर जाकर, दुःखिनी अन्ना के उन्नत चरित्र की जटिलता का विचार करके, उसका यह उद्देश्य शिथिल हो जाता है, और अंत को जाकर मानव-चरित्र की अन्तर्गत दुर्बलता की समस्या का कोई समाधान ही कवि नहीं करने पाया है। कहाँ वह कठिन नीतिज्ञ का निष्ठुर दंड लेकर 'दुर्नीति' को शासित करने चला था, कहाँ शासित व्यक्ति के साथ मानवत्व के समान सूत्र में ग्रसित होकर उसे भी रोना पड़ा है! सच्चे कलाविद् की श्रेष्ठता का प्रमाण इसी से मिलता है। वह अपने प्राणों की प्रेरणा से चरित्र चित्रित करता है, और अपने प्राणों ही में वह उन चरित्रों की यातनाओं का अनुभव करता है। धर्मध्वजी लेखक की तरह, अपने चरित्रों से अपने को बिलकुल अलग समझकर वह शासक नहीं बनना चाहता।

जहाँ किसी नीति को प्रतिष्ठित करना ही लेखक का मूल उद्देश्य रहता है, वहाँ वह संकीर्णता का प्रचार करता है, पर जहाँ सत्य सौंदर्य तथा मङ्गल से पूर्ण स्वाभाविक छवि चित्रित करके ही चित्रकार अपना

काम पूरा हुआ समझता है, वहाँ उस आदर्शमय चित्र की स्वाभाविक सरलता हृदय को उन्नत बनाने में सहायक होती है।

नवम्बर—१६२७



काव्य में अस्पष्टता तथा रूपक-रस

आधुनिक हिन्दी कविता की आलोचना करते हुए हाल में हिंदी के एक प्रतिष्ठित साहित्यिक ने कहा था कि श्रेष्ठ कविता वह समझी जानी चाहिए जो पढ़ते ही समझ में आ जाय और जिसका रस लेने में बुद्धि का व्यय बिलकुल न करना पड़े। हमारे साहित्य के दुर्भाग्य से ऐसे साहित्यालोचक अभी तक वर्तमान हैं, जो कविता को अंगूर का दाना या रसगुल्ला समझते हैं कि मुँह में डालते ही उसकी मिठास का स्वाद लेकर आनन्द प्राप्त करें। कविता को तत्कालिक आनन्द की सामग्री समझने वाले, क्षणिक विनोद के इन उपासकों को मालूम होना चाहिए कि वास्तविक कविता का रस कवि के जीवन-व्यापी आत्म-निपीड़न द्वारा प्राप्त होता है। वह आत्मा के अतलतम प्रदेश से निःसृत रस है, जिसे आप साधारण अंगूरी रस की तरह एक घूँट में गटक कर परम तृप्ति से 'वाह' कहकर निःशेष नहीं कर सकते। इस आध्यात्मिक रसायन के पान के अधिकारी सभी ऐरे-गैरे नहीं हो सकते। इसके लिए साधना की आवश्यकता है।

लोग कहते हैं कि कविता एकदम स्पष्ट होनी चाहिए। मैं कहना चाहता हूँ कि श्रेष्ठ कविता का पहला गुण अस्पष्टता है। इस वस्तु जगत की स्पष्ट तथा व्यक्त बातों को अस्पष्ट तथा अव्यक्त रूप प्रदान करने के लिए ही कविता की सृष्टि हुई है, अन्यथा उसका कोई उद्देश्य

नहीं रह जाता। यदि स्पष्ट ही बात कहनी है तो कविता की आवश्यकता ही क्या है ? साधारण गद्य की सरल भाषा में यह और भी अच्छी तरह से कही जा सकती है।

मानवात्मा रात-दिन के व्यावहारिक तथा लौकिक विषयों को उनके प्रत्यक्ष, नग्न तथा व्यक्त रूप में ही परम सत्य के बतौर मानने के लिए कतई तैयार नहीं है। वह अनुभव करती है कि वस्तु-जगत के व्यक्त रूप के भीतर जो अव्यक्त स्वरूप अपनी सूक्ष्म इन्द्रजाली माया विस्तारित किये हुए है वही वास्तविक सत्य है। विख्यात जर्मन दार्शनिक फिख्टे ने कहा है कि इस दृश्य-जगत की आड़ में जो एक स्वर्गीया छाया की माया प्रतिक्षण नाना रूपों तथा रसों के साथ विहरण किया करती है, वही वास्तविक सत्य है। कार्लाइल ने भी अपनी एक प्रसिद्ध पुस्तक में कवि तथा कविता की अलोचना करते हुए फिख्टे की इसी उक्ति का उल्लेख किया है। प्रत्येक श्रेष्ठ-कला का उद्देश्य इसी अव्यक्त छाया को नाना रंगों तथा रसों के साथ व्यक्त करने का रहता है।

हमारे यहाँ मसल मशहूर है कि दूर के ढोल सुहावने लगते हैं। इस उक्ति को वास्तविक जगत के अनुभवों से सुपरिचित लोग कल्पना लोक में विचरने वाले जीवों के रंगीन स्वप्नों को तुच्छ करने के लिए काम में लाते हैं। इस कथन का यथार्थ तात्पर्य यह है कि ढोलों का शब्द वास्तव में विकट और कर्णकटु होता है, पर जब वे दूर में बजते हुए सुनाई देते हैं तो भ्रमवश मधुर तथा मनोहर मालूम होते हैं। मैं यहाँ पर अनुभवी विज्ञजनों से यह प्रश्न करने की धृष्टता करना चाहता हूँ कि ढोल के निकट बजने को आप वास्तविक क्यों मान लेते हैं और दूर बजने को अवास्तविक क्यों कहते हैं ? यह आप कैसे कह सकते हैं कि निकट ही एकमात्र सत्य है और दूर असत्य ? यदि निकट सत्य है तो निकट में हम पृथ्वी को चपटी देखते हैं और उसकी सीमा सामने के खेतों तक समाप्त हो जाती है, क्योंकि हमारी आँखें एक दृष्टि

से उसके आगे नहीं देख सकती। पर आप कहते हैं कि पृथ्वी गोल है और उसका क्षेत्र सामने के पेड़ों से बहुत आगे तक विस्तृत है। अब बतलाइये, कौन सी बात सच मानी जाय ? इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि दूर के ढोल का शब्द मेरे निकट के ढोलों से अधिक वास्तविक है। यह इसलिए कि दूर बजने में ढोलों का सम्मिलित शब्द एक ऐसा मधुर सांगीतिक सामंजस्य उत्पन्न करता है जो आपकी आत्मा को वस्तु-जगत की झूठी वास्तविकता के भीतर छिपे हुए मूल सत्य से परिचित कराता है।

आप दस-पाँच पेड़ों के अत्यन्त निकट खड़े हैं और उनकी डाली-डाली और पत्ती-पत्ती देख रहे हैं। उन्हें देखकर कोई भी कवित्वमय या चित्रमय भाव आपके मन में उत्पन्न नहीं होता। वहां से हटकर आधे मील की दूर से आप उन्हें देखते हैं तो एक अपूर्व छाया की माया आपके मन में लहराने लगती है। यदि आप इस माया को भ्रामक तथा अवास्तविक कहना चाहें तो यह आपकी ज्यादती है। यन्त्र विशेष से यदि आप किसी सुन्दर पुरुष या स्त्री का मुख देखें तो आपको उसके चर्मावरण में सहस्रों छिद्रों से बना हुआ उसका विकट रूप दिखाई देगा। ये छिद्र कृत्रिम नहीं, वास्तव में मुख पर वर्तमान रहते हैं। यदि आप निकटतम दृष्टि से वास्तविकता पर विचार करना चाहें तो यन्त्र से दिखाई देने वाली इस विकटाकृति को ही आपको परम सत्य के तौर पर मानना चाहिए। पर आप ऐसा मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

असल बात यह है कि प्रकृति स्वयं हमारी आंखों में मनोमोहकता का झीना परदा डालकर वस्तु-जगत् को काव्यजगत् के रूप में रखना चाहती है। यही कारण है कि आकाश के तारे अपने नग्नाभास से हमारी आंखों में स्निग्धता बरसाते हैं और अपनी करुण किरणों के विकीरण से पुलक व्याकुलता सरसाते हैं। यदि वे अपने वास्तविक रूप में प्रकट होते तो अपनी प्रचण्ड अग्नि की रुद्रज्वाला से पल में प्रलय उपस्थित कर देते। पर प्रकृति उन प्रलयाग्नि के महागोलों को ऐसे

स्निग्धोज्वल हीरक-खण्डों के रूप में हमारे नेत्रों में झलकाती है कि हम मुग्ध होकर आनन्द-जनित विस्मय प्रकट करते हुए कहते हैं—

Twinkle, twinkle, little star!
How I wonder, what you are!

पर इसका यह अर्थ नहीं कि जिस रूप में वे हमारे सामने व्यक्त होते हैं, वह अवास्तविक है। वास्तविकता एक सापेक्ष शब्दवाच्य है। वस्तु एक ही होती है, पर देश और काल के अंतर से वही हमें भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देने लगती है। कवि प्रकृति की ही तरह वस्तुओं को ऐसे 'फोकस' में 'सेट' करता है कि वह हमें सुसामञ्जस्ययुक्त तथा साथ ही सुन्दर दिखाई दे! कवि की मानसिक अवस्था किसी विशेष कविता की रचना के समय जिस विशेष देश तथा काल में स्थित रहती है, यदि हम भी अपने मन को उसी रूप में न बाँध सकें तो हमें अवश्य ही उसकी कृति अस्पष्ट तथा अर्थहीन मालूम पड़ेगी। स्पष्टता तथा अस्पष्टता का झगड़ा यहीं खड़ा होता है। बिजली का केवल वही रूप सत्य नहीं जो वज्र की तरह कड़क कर हमारे सर पर बोलता है, उसका वह रूप भी उतना ही सत्य है जो मेघदूत के मेघ के स्निग्ध गम्भीर घोष से दामिनी की मनोहर दमक में व्यक्त होता है।

साधारणतः लोगों में यह भ्रान्त धारणा फैली हुई पाई जाती है कि कविता का एकमात्र उद्देश्य हृदय की विभिन्न अनुभूतियों में चेतनता उत्पन्न करने का है। इसमें संदेह नहीं कि हृदय के भावोद्वेगों को उभाड़ने वाली और अपनी मार्मिकता से हृदय के तारों में झनकार उत्पन्न करने वाली कविता अपनी निजी विशेषता रखती है। ऐसी कविता मर्मस्पर्शी होने के साथ ही स्पष्ट तथा सरल भी होती है। पर कविता का क्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं है। एक विशेष प्रकार की कविता होती है जो कवि की आत्मा के अन्ततम प्रदेश से प्रसूत होकर स्वतः बिना किसी कृत्रिम चेष्टा के स्वप्नों के ताने-बाने से ठीक उसी प्रकार रहस्यमय इन्द्रजाल का सृजन करती है जिस प्रकार प्रकृति अपने

अज्ञात, अतल केन्द्र से सृष्टि व्यापिनी माया का छायामय वितान तानती जाती है? कवि की प्रतिभा प्रकृति की ही तरह अज्ञात तथा स्वतःप्रसूत होती है।

प्रत्येक उच्चकोटि की कविता में कवि की आत्मा की निगूढ़तम आकांक्षाओं का आभास स्वप्नों के रूप में झलकता है। पर स्वप्न एक ऐसी माया है जो कभी स्पष्ट हो ही नहीं सकती, इस बात का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को अपने रात-दिन के स्वप्नों से हो सकता है। पर कोई भी स्वप्न प्रकट में कैसा ही ऊटपटांग तथा अस्पष्ट क्यों न जान पड़े, किन्तु वास्तव में उसकी प्रत्येक घटना ज्वलन्त सत्य से धड़कती रहती है। यह बात फ्रायड के समान मनस्तत्व-विश्लेषकों ने अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दी है। आज तक स्वप्नों के सम्बन्ध में जनता में कई प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ पायी जाती थीं। अन्ध-विश्वासी लोग उन्हें भविष्यवाणियों के रूप में ग्रहण करते हैं। अन्ध-विश्वासों को ठुकराने वाले विज्ञानवादी उन्हें आज तक अर्थहीन मनोविकार कहकर उड़ा दिया करते थे। पर फ्रायड इन दोनों सिद्धान्तों को नहीं मानता। उसका कहना है कि प्रत्येक स्वप्न में हम अपनी अज्ञात चेतना में छिपी हुई अव्यक्त, अज्ञात आकांक्षाओं की चरितार्थता का सुख अथवा दुःख प्राप्त करते हैं—पर प्रकट तथा स्पष्ट रूप में नहीं, अस्पष्ट तथा साङ्केतिक रूप में। फ्रायड का कथन है कि स्वप्न कैसा ही विकृत और अर्थहीन क्यों न जान पड़े उसकी प्रत्येक असम्बद्ध तथा असङ्गत घटना विशेष अर्थ रखती है, पर सांकेतिक रूप में। अर्थात् प्रत्येक स्वप्न हमारी निगूढ़ आकांक्षाओं का रूपक है। उसी प्रकार एक विशेष श्रेणी की कविताएँ ऐसी होती हैं जो कवियों की अन्तश्चेतना में जागरित होने वाली अज्ञात आकांक्षाओं को स्वप्नों के आकार में वेष बदलकर सांकेतिक रूप में अपने को व्यक्त करती हैं। कवि की अन्तरात्मा नहीं चाहती कि वह अपनी अज्ञात आकांक्षाओं को नग्न रूप में लज्जारहित अवस्था में अभिव्यञ्जित करे। इसलिए वह नाना रङ्गीन आवरणों,

नाना रूपकों का सृजन करके इन्द्रजालमय बाने से उन्हें ढक कर हमारे सामने रखता है। उसकी अज्ञात चेतना जानती है कि नग्नता और स्पष्टता सौंदर्य के मूल रस को नष्ट कर देती हैं, इस कारण उसे मनोमोहक बनाने के लिए छायामय माया के रङ्गीन जाल का आवरण निर्मित होना आवश्यक है। फ्रायड ने कवियों की इस स्वप्नाभिव्यक्ति को उनकी अवचेतना में संचित विकारों को उन्नत रूपान्तर माना है पर उसी के बिरादर युग ने उसे अनन्त काल से मानव अन्तस्तल में सञ्चित अपूर्व रहस्यों का विस्फोट बताया है। आजकल के जो बने हुए वस्तुतन्त्रवादी नग्न रूप में चित्रित की गयी यथार्थता को ही कला की चरम श्रेष्ठता मानते हैं उनकी अज्ञात चेतना विकृत हो चुकी है, यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है।

प्रकृति के मूल केन्द्र में सृष्टि की निगूढ़ वासनामयी प्रवृत्ति के जो बीज अव्यक्त रूप में छिपे हुए हैं वे अपने को आकाश के तारों, पृथ्वी के पत्र-पुष्पों और हरी-भरी लताओं, वर्षा, शरत् वसन्त आदि ऋतुओं की नव-नव हिल्लोलमयी धाराओं के रूप में स्फुटित कर व्यक्त करते हैं—इन्हीं स्वप्नों के रूप में प्रकृति की अन्तरतम आकांक्षाएँ अभिरंजित होकर हमें आनन्द प्रदान करती हैं और प्रकृति के अभ्यन्तरिक भार को हलका करती हैं। अर्थात् अपने अन्तश्चेतन को रूपक के रूप में व्यक्त करने की प्रवृत्ति मूल प्रकृति में ही वर्त्तमान है। यदि प्रकृति अपने को इस प्रकार रूपक के रूप में प्रकट न करती और अपनी अन्तरात्मा को नग्न, निर्लज्ज रूप में व्यक्त करने के लिए उत्सुक होकर ढोंगी यथार्थवादियों का समर्थन करने पर उतारू हो जाती तो पृथ्वी में प्रतिक्षण ज्वालामुखियों का प्रचण्ड अग्नि उद्गीरण, समुद्र में प्रतिपल उत्ताल तरङ्ग मालाओं का भयंकर विस्फूर्जन, आकाश में निरन्तर मेघमालाओं का रुद्रकोपमय वज्र-वर्षण तथा नक्षत्रों के रूप में दिखाई देने वाले कोटि-कोटि महासूर्यों का अहरह प्रलयंकर ज्वालामय-संघर्ष दृष्टिगोचर होता, क्योंकि यही प्रकृति के भीतर का नग्न रूप

है। इसमें सन्देह नहीं कि इस नग्न रूप को प्रकृति कभी-कभी बीच-बीच में क्षण काल के लिए अभिव्यक्त कर बैठती है। ऐसे अवसरों पर समझ लेना चाहिए कि उसकी अंतश्चेतना में क्षणिक विकार उपस्थित हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह क्षणिक विकार भी कविता के रूप में (रौद्र रस के तौर पर) परिणत किया जा सकता है, पर तभी जब वह प्रकृति के मूल सामञ्जस्य के संसर्ग में लाया जा सके।

पर विकार न होने पर भी, साधारण अवस्था में भी, जब कि प्रकृति सुन्दर स्वप्नों, नाना रसों तथा मनोहर दृश्यों के रूप में अपनी मूलात्मा को अभिव्यक्त करती है, उस समय, उसके भीतर मथन-क्रिया किसी न किसी रूप में जारी रहती है। यह स्वाभाविक है। जो क्रिया उसके स्वप्नों का सृजन करती है उसकी प्रतिक्रिया उसे अभ्यन्तर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आन्दोलित किये बिना रह नहीं सकती: हम उस आन्दोलन को भले ही न देख पावें।

प्रकृति के स्वप्न-सृजन के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी हैं, वे ही बातें कवि के स्वप्न-सृजन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं, क्योंकि कवि की प्रतिभा की क्रिया भी प्रकृति के समान धारा में अज्ञात रूप से चला करती है। कवि जिन स्वप्नों को कविता में अंकित करता है, उन्हें रचने में उसके अभ्यन्तर में भीषण संघर्षण-विघर्षण का मथन-चक्र चलता है। उसे पाठक भले ही न देखें, पर वह कवि को संक्षुब्ध किये रहता है।

हम देख चुके हैं कि कवि के स्वप्न कविता के रूप में रूपक के बतौर स्फुटित होते हैं। यह रूपक-रस काव्य साहित्य में कोई नयी वस्तु नहीं है। प्राचीनतम काल से कविगण इस रस की धारा बहाते चले आये हैं। पौराणिक गाथाओं के कवि (प्राच्य तथा पाश्चात्य—सभी देशों में) इस रस की अजस्र धारा से साहित्य जगत को आप्लुत कर गये हैं। कालिदास के मेघदूत में यह रस लबालब भरा हुआ है। यक्ष के विरह और वर्षा की वेदना के रूप में वज्रशाप की जड़ता और चिरस्तब्ध मानवात्मा की चिर-मिलन व्याकुलता व्यक्त करके अलका-

पुरी रूपी चिरयौवन के चिदानन्दमय राज्य के शाश्वत सुख की प्राप्ति की ओर उसकी चिर-उत्सुकता का स्वरूप कालिदास ने अमर रूपक के रूप में वर्णित किया है। इटली के अमर कवि दांते का 'डिवाइना कोमेडिया' (स्वर्गीय नाट्य) एक महारूपक के सिवा और कुछ नहीं है, अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के यूरोपियन कवियों की कविताओं में रूपक-रस के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया जाता। हमारे यहाँ वर्तमान युग में रवीन्द्रनाथ की कविता में यह रस जिस परिपूर्ण वेग से उमड़ा है वैसा शायद ही संसार के किसी अन्य कवि की कविता में सम्भव हुआ हो। वर्तमान हिन्दी कविता में भी हम उस रस को छलकते हुए देखते हैं। छायावादी कविता की विशेषता और महत्ता इसी बात पर है कि यह इस रूपक रस को अत्यन्त मनोहर तथा मुग्धकर रूप में हमारे आगे रखने में समर्थ हुई है।

अपनी आत्मा के निपीड़न से सुन्दर रूपकमय स्वप्नों का सृजन करने वाले इन कवियों की कविताओं को 'अस्पष्ट' करार देकर उनकी अवज्ञा करने से काम नहीं चलेगा, बल्कि चेष्टा यह करनी होगी कि उन्हें समझने के लिए अपनी आत्मानुभूति द्वारा उनकी आत्मानुभूति की कुञ्जी प्राप्त की जाय। कवि की कविता उसकी जीवन-कालव्यापी साधना का धन होती है। उसे एक चुटकी में उड़ा देना अथवा सरसरी निगाह से एक बार पढ़कर न समझ पाने पर उसे अस्पष्ट तथा अर्थहीन करार देना, कवि तथा कविता के प्रति घोर अन्याय करना है। विश्वविद्यालयों में शेली, कीट्स, कालेरिज, वर्ड्सवर्थ आदि की कविताओं पर नोट पर नोट छात्रों को रटाये जाते हैं, तब भी छात्रगण उन्हें अच्छी तरह समझ नहीं पाते। यह होने पर भी किसी साहित्यालोचक ने यह नहीं कहा कि वे छायावादी और अर्थहीन हैं, तब बेचारी हिन्दी कविता पर यह जुल्म क्यों? यह केवल अपनी मातृभाषा की विवशता का अनुचित लाभ उठाना है! (१९३६)

भावुकता बनाम भावज्ञता

हमारे छायावादी साहित्य में कुछ आचार्यों तथा कुछ उदीयमान प्रतिभाशाली नवयुवक कवियों की कविताओं को छोड़कर शेष सब रचनाओं में कोरी छिछली और सस्ती भावुकता इस प्रकार सघनता से छाई हुई है जिस प्रकार एक छिछले तालाब के ऊपर सिवार छाई रहती है। मैं भावुकता के महत्व को खर्च नहीं करना चाहता, पर मेरी यह ध्रुव धारणा है कि जो भावुकता बुद्धि द्वारा सुसंयत और अनुशीलन द्वारा सुसंस्कृत नहीं होती वह या तो साहित्य की चिर-प्रगतिशील धारा में बह जायगी, या स्वयं एक बावड़ी के आबद्ध जल की तरह चिर-प्ररुद्ध होकर साहित्य के नन्दन कानन के मुक्त वातावरण के बीच में दुर्गन्धि फैलाने के सिवा और कुछ नहीं कर पावेगी।

भावुकता ऐसी नहीं होनी चाहिए कि साबुन के फेनिल बुद्बुदों की तरह वायु की तरंगों में कुछ समय के लिए उड़ान भरकर सदा के लिए विलीन हो जाय। उसका आधार निरी हवाई कल्पना नहीं बल्कि कोई वास्तविक सत्य होना चाहिए। उसका मूल उद्गम आकाश की शून्यता नहीं, बल्कि अन्तर्प्राण की मार्मिक अनुभूति हो। अर्थात् कवि के लिए कोरा भावुक नहीं; बल्कि भावज्ञ होना आवश्यक है। भावज्ञता-रहित भावुकता कुछ समय के लिए भले ही हृदय में मीठी वेदना उपजाने में समर्थ हो, पर उसका खोखलापन अन्त को प्रकट होकर रहता है। फ्रेंच और जर्मन साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने से इस बात का उदाहरण स्पष्ट हो जायगा।

रूसो के समय में फ्रेंच लोगों ने निरी भावुता के फेर में पड़कर उसके उद्दाम वेग को अत्यन्त उछृङ्खल बना दिया था। रूसो की सुन्दर

भावुकता में भावज्ञता की पुट रहने से उसका महत्त्व फिर भी किसी अंश तक स्थायी रहा। भावज्ञता का आधार किसी न किसी हद तक रहने से रूसो की भावुकता का अन्त कुछ समय तक अत्यन्त प्रखर तथा मर्मभेदी बना रहा और पीछे भी किंचित् परिमाण में स्थिर रहा। पर जहाँ कहीं वह कोरी भावुकता के आवेग में तूफान की तरह बहता चला गया, वहाँ उसने अपने आपको भी धोखा दिया और दूसरों को भी भ्रम-जाल में डाल दिया। इस प्रकार की निराधार भाव-प्रवणता का प्रभाव अधिक समय तक स्थायी न रह सका और शून्य में विलीन हो गया। जिन-जिन फ्रेंच लेखकों ने रूसो का अनुसरण किया (और ऐसे लेखकों की सख्या आवश्यकता से बहुत अधिक रही) वे भी आँधी की तरह आये और उसी तरह मिट भी गये। फ्रेंच साहित्य में एक मात्र विक्टर ह्यूगो ऐसा कवि रहा है जो भावज्ञता के रस में पूर्णतया शराबोर था। उसकी भावुकता उसकी भावज्ञता के सागर की अतल गहराई के ऊपर तैरने वाली फेनिल लहरियों के लोल-लीला-लास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

बहुत लोगों की धारणा है कि फ्रेंच साहित्य ससार की अन्य सब भाषाओं के साहित्य में श्रेष्ठ है। यह लोगों का भ्रम है। यूरोपियन साहित्य के वास्तविक मर्मज्ञों ने कभी उसे विशेष महत्व नहीं दिया। ह्यूगो के अतिरिक्त फ्रांस का और कोई कवि वर्ड्सवर्थ, कालेरिज, शेली, बायरन आदि अंग्रेज कवियों तथा गेटे, हाइने आदि जर्मन कवियों की सुगम्भीर भावज्ञता समन्वित कविता की समकक्षता कदापि न कर सका। कारण यही है कि पूर्वोल्लिखित अंगरेज तथा जर्मन कवि कविता में जीवन की गहन मार्मिकता का दर्शन और जीवन में गम्भीर काव्यकला का प्रदर्शन किया करते थे और कल्पना को शून्य में लटकने वाले इन्द्र-धनुष की वर्णच्छटा तथा धूप में निरुद्देश्य भटकने वाले बादलों के निस्सार रेशमी संसार तक ही सीमित नहीं रखते थे।

फ्रेंच साहित्य की तुलना में यदि जर्मन साहित्य को हम सामने रखे

तो मालूम होगा कि उसकी धारा ही कुछ दूसरी है। आधुनिक जर्मन साहित्य का प्रारम्भ ग्येटे युग से होता है। ग्येटे अपनी सर्वप्रथम रचना 'वेर्टेर' में भावुकता के प्रवाह में बह गया था। इस भावुकता का प्रभाव प्रारम्भ में बड़ा जबरदस्त रहा और उसकी बाढ़ में बहुत से लेखक बह गये। पर यह प्रभाव स्वभावतः अधिक समय तक स्थायी न रह सका। ग्येटे शीघ्र ही अपनी भूल समझ गया। इसलिए उसकी परवर्ती रचनाओं में सत्वहीन भावुकता के बदले जीवन के वास्तविक तत्व से निचोड़े गये रस की ही प्रचुरता पाई जाती है, जिसकी चरम परिणति हम उसकी संसार प्रसिद्ध रचना फौस्ट में पाते हैं। केवल ग्येटे ही नहीं, शिलर, लैसिंग, हाइने आदि श्रेष्ठ जर्मन कलाकारों में हम यही विशेषता पाते हैं। जर्मनों ने मूल प्राणशक्ति को अपनाया और फ्रेंचों ने केवल हृदय की अस्थिर आवेगमयी प्रवृतियों का फूत्कार बाहर निकालने में ही अपनी सारी चेष्टा समाप्त कर दी।

रस सृष्टि करना ही साहित्य-कला का उद्देश्य है, सन्देह नहीं। मीठी भावुकता में भी एक विशेष रस है, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर वह रस अंगूर, अनार और सन्तरे की तरह है जो आसानी से, बिना अधिक परिश्रम के निचोड़कर निकाला जा सकता है। ऐसा रस थोड़ी देर के लिए कलेजे को ठण्डा कर सकता है, पर नव-जीवन का उत्पादन नहीं कर सकता। जीवन की शक्ति का संचार करने वाला रस वही हो सकता है जो पारे तथा अन्यान्य धातुओं की तरह कठिन आंच में तप कर रस सिन्दूर आदि के रूपों में परिणत होता है अर्थात्, जो भावज्ञता तथा जीवन की मार्मिक अनुभूति द्वारा परिपुष्ट होता है। श्रेष्ठ कलाकार एक प्रकार का रसायनिक है, जो जीवन के कठिन से कठिन तत्वों को भी अपनी आत्मा के रासायनिक यन्त्र में परिपक्व करके अभिनव रस के रूप में परिणत कर देता है। (१९३६)

छोटी कहानी की विशेषता

"निमेषे निमेष होये जाक् शेष
वहि निमेषेर काहिनी।"* (रवीन्द्रनाथ)

आजकल हिन्दी-साहित्य में छोटी कहानियों का बोलबाला है। बिना कहानियों के मासिक पत्रों की गुजर नहीं। पर सत्साहित्य के नाम से कथा-साहित्य का जिस प्रकार सत्यानाश किया जा रहा है, उसे देखकर आंतरिक दुःख होता है। अगर एक लेखक कोरे मनोरंजन के लिए कोई कहानी लिखता है, तो दूसरा लेखक कोरी तत्वालोचना में अपनी शक्ति का अपव्यय करता है। कहानी का उद्देश्य इन दोनों ही के ऊपर है। मनुष्य के हृदय-पट में अनेकानेक सुख-दुखों का चक्र प्रतिक्षण धूप-छाँह का-सा खेल खेलता रहता है। इस धूप-छाँह का चित्र यथार्थ रूप से अंकित करके उसे अपने हृदय के सुन्दर रंगों से रंजित करना ही सच्चे कलाविद् का उद्देश्य रहता है। कहानी का उद्देश्य न तो मनोरंजन ही है, और न शिक्षा ही। उसका उद्देश्य है स्वाभाविक रीति से सौन्दर्य और आनन्द को प्रतिफलित करना। हृदय के भाव नाना अवस्थाओं में बदलते रहते हैं। जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्षण से उलटा सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थति की क्षणिक गति को प्रदर्शित करने—हृदय के भावों की किसी विशेष अवस्था के रंगों को रंजित करने में ही कहानी की विशेषता है। संसार में प्रत्येक पल की कहानी उसी पल में समाप्त होकर अनन्त के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा

---

*प्रत्येक पल प्रतिपल की कहानी वहन करता हुआ अपने आप में विलीन हो जाय।

में है। छोटी कहानी में पल की यही क्षणिक गाथा वर्णित की जाती है। जिस मानसिक स्थिति से प्रणोदित होकर रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

शुधु अकारण पुलके
क्षणिकेर गान गारे आजि प्राण
क्षणिक दिनेर आलोके !❀

उसी मानसिक स्थिति की प्रेरणा से कवि छोटी कहानी लिखने को तत्पर होता है। "क्षणिक का गीत" यद्यपि प्रत्यक्ष में अस्थाई होता है, तथापि परोक्ष में वह अनन्त के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। प्रत्येक पल की कहानी प्रत्येक पल में समाप्त होने पर भी अपने-आप में पूर्ण है। इसलिए वह उपेक्षणीय नहीं है। पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते। पूर्ण से पूर्ण ले लेने से पूर्ण ही शेष रहता है। जिस प्रकार सृष्टि के प्रत्येक परमाणु के भीतर भी सौर-चक्र वर्तमान होने से वह अपने आप में पूर्ण है, उसी प्रकार प्रत्येक निमेष की कहानी भी।

बिना किसी कारण के पुलकित होकर कवि यह जो छोटी कहानी लिखने बैठता है, यह क्या केवल सुख की रचना है, दुःख की नहीं ? पुलक का संसार क्या केवल सुख ही के कारण होता है ? नहीं, दुःख की घटना भी अपने अदृश्य रस से कवि को पुलकित करने में समर्थ होती है। अगर ऐसा न होता, तो ट्रैजेडी का कला में कोई स्थान ही न होता, और करुण-रस निरर्थक होता। हमारे कवि ने करुण रस को सब रसों का सरताज माना है—

एकोरसः करुणमेव निमित्तभेदाद्,
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्त्तान्।

एक ही करुण-रस, अवस्था के भेद से, नाना रसों के रूप में

❀अकारण पुलकित होकर, हे प्राण, तुम दिन के क्षणिक आलोक में क्षणिक का गीत गाओ !

प्रकाशित होता है। दुःख में भी एक प्रकार का माधुर्य भरा है। जो व्यक्ति सुख में लिप्त नहीं रहता, वह दुःख में भी निर्विकार रहता है, और इसी कारण दोनों का रस ग्रहण करने में समर्थ होता है। रुद्र को सृष्टि और प्रलय के भीषण तांडव नृत्य में इतना आनन्द क्यों प्राप्त होता है। कारण, वह इन अवस्थाओं में से किसी में भी लिन नहीं है, केवल ऊपर ही ऊपर से उनका रस ले लेते हैं। जब तक कवि दुःख के रस में पूरी तरह डूब कर उसमें से बेदाग बाहर नहीं निकल आता तब तक वह अच्छी कहानी या कविता लिखने में समर्थ नहीं हो सकता। यह रस ऐसा है कि जिसमें—

अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग।

इसमें एक बार सबको डूबना पड़ता है। जो डूबा रह जाता है, वह गया। जो पूर्णतः डूबकर बाहर निकल आता है, वही कवि है, वही ज्ञानी है, दार्शनिक है, और सब पाखंडी हैं। जिनका रग-रग रस से ओत-प्रोत नहीं है, वे लाग अगर कोई कहानी या कविता लिखते हैं, तो वे 'लिटरेरी-पैरेजाइट्स' (साहित्यिक गलग्रह) के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जब तक कवि दुख में डूबा हुआ रहता है, तब तक वह जो भी रस पिलाता है, वह कड़वा होता है। पर जब दुःख का रस उसकी आत्मा से छनकर निकलता है, तब उसका स्वाद ही अनिर्वचनीय हो जाता है।

प्रतिदिन के सुख-दुःख का रस ही जीवन का रस है। इस रस के आगे कोई भी तत्व नहीं ठहर सकता। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मानव-जीवन का रस मनोरंजन और तत्व, इन दोनों के परे है। पर इसके यह मानी नहीं कि वह आदर्शहीन है। नहीं, यह आदर्श से पूर्ण है। उनके आदर्श हैं सौंदर्य और सामंजस्य। यहाँ पर जिज्ञासु पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि सौंदर्य और सामंजस्य ही जब छोटी कहानी के आदर्श हैं, तो उससे पढ़नेवालों को और समाज को फायदा क्या हुआ ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि सौंदर्य के स्वाभाविक सामंजस्य

की परिणति मानव चरित्र को उन्नत बनाने में जितनी सहायता कर सकती है उतना कोई 'शिक्षाप्रद' कहानी नहीं। अपनी बात मैं दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करना चाहता हूँ। मान लीजिए कोई स्त्री विधवा है, और और मायके में आकर रहती है। वहाँ वह गार्हस्थ्य जीवन के धन्धों में लगी है। यदि वह रूपवती होगी, अवश्य ही किसी कहानी लेखक की नजरों में आ जायगी। मान लीजिए, दो कहानी लेखकों की शुभदृष्टि उस पर पड़ी है। यह भी फर्ज कर लीजिए, उनमें से एक कहानी-लेखक 'शिक्षा प्रद' कहानियाँ लिखना पसन्द करता है और दूसरा स्वाभाविकता का पक्षपाती है। इत्तिफाक से शिक्षा पसन्द कहानी-लेखक से किसी सम्पादक ने अपने पत्र के 'विधवांक' के लिए कोई कहानी लिखने की प्रार्थना की। अब वह लेखक सम्पादक का आशय समझकर उस विधवा के सम्बन्ध में अवश्य ही ऐसी कल्पना करेगा कि या तो वह वैधव्य-यंत्रणा न सह सकने के कारण कुलटा बन गयी है, या इतनी बड़ी सती है कि कितने ही मुग्ध प्रेमियों के प्रेम याचना को तिरस्कृत करके धर्म-कर्म में लगी है, और तुलसी कृत रामायण का अनुसूईया की तरह अन्य स्त्रियों को सतीत्व का उपदेश दे रही है। कहना नहीं होगा कि यह कहानी पाने से सम्पादक महोदय पुलकित हो उठेंगे, और अपने 'विधवांक' को कृतार्थ समझेंगे। दोनों प्रकार के चित्रों से समाज को 'शिक्षा' मिलेगी। पहली कल्पना से समाज की दुर्दशा पर प्रकाश पड़ेगा, और दूसरी कल्पना से हिन्दू विधवा का महान आदर्श जनता में प्रतिष्ठित होगा। इसलिए शिक्षा-पसन्द आर्टिस्ट महाशय अवश्य ही पाठक और सम्पादक समाज के धन्यवाद के पात्र होंगे, इसमें सदेह नहीं।

पर दूसरा लेखक कभी सम्पादक, समालोचक और पाठक की मांग के अनुसार कहानी नहीं लिखेगा। वह लिखेगा अपने हृदय की प्रेरणा से। वह संभवतः उस विधवा सुन्दरी के वास्तविक जीवन के प्रति दृष्टि रखकर उसके सम्बन्ध में यह कल्पना करेगा कि वह अपने वैधव्य

के असहनीय दुःख की ज्वाला को अपने हृदय में शांतभाव से वहन करती हुई, अपने माता-पिता, भाई-बहन और बहू-भाभियों पर अपने स्निग्ध हृदय का सुमंगल स्नेह बरसाती हुई अविच्छिन्न रूप से, अविराम गति से घर के धन्धों में लगी हुई है, न किसी को कोई उपदेश देती है, न किसी का कोई उपदेश सुनती है, अपने हृदय की प्रचण्ड अग्नि को अपने ही हृदय की राख से ढके है, किसी से अपने दुःख की शिकायत नहीं करती—केवल अनन्त की प्रतीक्षा में है और अनन्त के लिए ही अपने जीवन का दीपक जलाए बैठी है, इस कर्म-निरता देवी, इस अज्ञात तपस्विनी के जीवन की स्वाभाविक स्निग्ध छवि की एक झलक यदि वह लेखक अपना छोटी कहानी में दिखा सके, तो इसकी स्निग्धता का जो प्रभाव पाठकों के हृदय पर, उनके चरित्र पर—पड़ेगा, वह क्या कभी शिक्षाप्रद कहानी-लेखक की रचना से पड़ सकता है ? सौंदर्य अपने आप में पूर्ण है। उसे किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं ! सौंदर्य की स्वाभाविकता मनुष्य को अपकर्मों से बचाने में जितनी सहायक होती है, उतनी कोई शिक्षा नहीं हो सकती। ग्येटे ने अपने फौस्ट नामक नाटक में दिखलाया है कि फौस्ट संसार के दुःखों से ऊबकर जहर का प्याला हाथ में लेकर मुंह में डालना ही चाहता है कि अचानक बाहर सुमधुर संगीत का शब्द सुनकर, किसी अनिर्वचनीय महद्भावना के उल्लास से पुलकित होकर थम जाता है। संगीत का सौंदर्य उसे आत्महत्या के पाप से बचा देता है। इसी प्रकार सच्चरित्र स्त्रियों के स्निग्ध प्रेम के कारण अनेक ऐसे आततायी अपराधियों को शीलवान होते देखा गया है, जिन्हें दंड की शिक्षा नहीं सुधार सकी।

वर्तमान हिन्दी साहित्य में यह भ्रांत धारणा लोगों में बद्धमूल हो गयी है कि बिना किसी शिक्षा के कहानी व्यर्थ है। इस कारण जहाँ देखिए, वहीं शिक्षा का जोर है। इसी प्रवृत्ति को हम लोग साहित्य की उन्नतावस्था समझे बैठे हैं। प्रेमचन्दजी की रचनाओं में यदि शिक्षा

भरी पड़ी है, तो उनमें रचना-कौशल भी वर्तमान है, इस कारण उनकी कहानियों में तो भी एक विशेष स्वाद पाया जाता है। पर उनके अनुयायी उनके दोष का ही अनुकरण करने में समर्थ हुए हैं, गुणों का नहीं। तुच्छ सांसारिक शिक्षा देना ही क्या चरम पुरुषार्थ है? मैं तो कहूँगा कि जो लेखक शिक्षा देने के बदले पाठकों को अपना हृदय प्रदान कर सकता है, वही श्रेष्ठ कलाविद् है। कला का सम्बन्ध हृदय से है, मस्तिष्क से नहीं।

आधुनिक छोटी कहानी का प्रचलन पहलेपहल किस लेखक ने किया था, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर इसकी विशेषता सबसे पहले जर्मन कवि ग्येटे की कहानियों पाई जाती है। इस महाकवि ने केवल कहानियों में ही नहीं, अपनी किसी भी रचना में कभी कोई उद्देश्य नहीं निर्देश किया है। रहस्यमय मानव-जीवन की सुख-दुःख मयी विचित्रताओं की झलक उसने अपनी कहानियों में दिखलाई है। कथा-साहित्य के लिए फ्रांस प्रसिद्ध है। वहाँ गी-दे मोपासाँ छोटी कहानियों के लिए प्रसिद्ध है। इस लेखक की कहानियों में रवीन्द्रनाथ की कविता का निम्नलिखित भाव पाया जाता है—

नदी जले पड़ा आलोर मतन
छुटे जा झलक-झलके !

अर्थात् नदी के अविरल जल-स्रोत में पड़े हुए आलोक की तरह झिलमिलाती हुई झलक से बहता चला जा !

पूर्वोक्त फ्रांसीसी लेखक ने यह झिलमिली झलक बड़ी सुन्दरता के साथ अपनी कहानियों में दर्शायी है। पर उसकी कहानियों में सागर का गम्भीर विषाद नहीं पाया जाता। इस कारण उसकी छिछली भावुकता रसज्ञ व्यक्ति को अनेक समय अत्यन्त अरुचिकर प्रतीत होती है। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि उसने अपनी कहानियों में किसी प्रकार की शिक्षा प्रदान करने की चेष्टा नहीं की है। विशेष विशेष भावों को प्रतिबिम्बित करना ही उसका प्रथम तथा अन्तिम उद्देश्य रहा है।

संध्या के स्वर्णिम आलोक में जो व्यक्ति निर्झर के झर्झर-प्रपात का अनुपम दृश्य देखकर मुग्ध हो गया है, मनुष्य के व्यक्तिगत सुख-दुःख की रंग-बिरंगी आभाओं से जिसका मन उल्लसित हो उठा है, वह क्यों कोई शिक्षा किसी को देने लगा! वह तो केवल आनन्द की ही अनुभूति व्यक्त करेगा। डिकंस की कहानियों में भी कहीं लौकिक शिक्षा का समावेश नहीं है। उनमें मानव-जगत के सुख-दुःख का निष्ठुर परिहास करके कोरा आमोद झलकाया गया है। इस प्रकार का आमोद और हास-परिहास यद्यपि अवास्तविक है, और इस प्रकार की कहानियाँ यद्यपि उच्च कला के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं की जा सकतीं (भले ही अँगरेज लोग उनकी श्रेष्ठता की डींग मारते रहें) तथापि वे भी उद्देश्य-प्रधान नहीं हैं।

समस्त साहित्य संसार में यदि कहानी लिखने में कोई लेखक समर्थ हुए हैं तो वे रूसी लेखक, और उनमें भी विशेषतः टाल्सटाय, गोर्की और चेकाफ। सभी लोगों को विदित है कि टाल्सटाय कितने कट्टर नीतिनिष्ठ थे। पर उन्होंने अपनी कहानियों में भावों को प्रतिबिम्बित करने के अतिरिक्त कहीं भी कोई शिक्षा या नीति प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं की है। अन्तिम जीवन में उन्होंने जो नैतिक उपदेशपूर्ण 'पैरेबल' (parables) लिखे थे, वे उनकी कला के अन्तर्गत नहीं हैं। वे उनके लेखों के अन्तर्गत हैं। जब कोई रूसी हमसे पूछे कि क्या आपने टाल्स्टाय की कहानियाँ पढ़ी हैं, और हम इसका अर्थ यह समझें कि हमने उनकी धर्म-सम्बन्धी रूपक-कथाएँ पढ़ी हैं, तो वह हमारी अल्पज्ञता पर हँसेगा। टाल्स्टाय की 'छोटी कहानियाँ' और उनके 'पैरेबल' एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। टाल्स्टाय मानते थे कि मनुष्य के लिए नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है। पर वह यह भी जानते थे कि कला के भीतर शिक्षा का लेश-मात्र स्थान नहीं है। उनकी कज्जाक शीर्षक कहानी पढ़िये, Death of Ivan Iliyitch और A Landed proprietor पढ़िये। आपको मालूम होगा कि मानसिक तथा

प्राकृतिक वृत्तियों का जो स्वाभाविक सौंदर्य टाल्स्टाय ने इन कहानियों में दर्शाया है, उसके सामने कोई भी शिक्षा या नीति नाचीज़ है। गोर्की और चेकाफ की कहानियों का भी यही हाल है। विषाद का अतल सागर मथ कर इन दो कलाविदों ने जो अनिर्वचनीय रस निकाला है, उसकी तुलना में क्या कोई तुच्छ सामाजिक शिक्षा ठहर सकती है !

हमारे देश में रवीन्द्रनाथ और शरच्चन्द्र ने कहानी लिखने में ख्याति प्राप्त की है। रवीन्द्रनाथ की कहानियों में उन्हीं की कविता का पूर्वोक्त भाव पाया जाता है—

शुधु अकारण पुलके
क्षणिकेर गान गारे आजि प्राण
क्षणिक दिनेर आलोके !

और—

नदी जले पड़ा आलोर मतन
छुटे जा झलके-झलके !

अर्थात् अकारण पुलक से दिन के आलोक में क्षणिक का गीत गाना और नदी के अविरल जल-स्रोत पर पड़े हुए प्रकाश की तरह झिलमिलाते हुए बहना उनकी कहानियों की विशेषता है। पर उनकी झलक अत्यन्त अस्पष्ट और मायामरीचिका की तरह भ्रम उत्पन्न करने वाली है। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें शिक्षा की गन्ध तक नहीं है, और केवल निष्कलुष आनन्द का आभास है। पर यह सब होने पर भी उनकी कहानियाँ छायात्मक अधिक हैं, सत्तात्मक कम। उनकी कहानियों में स्वप्नलोक की ठगनी माया का ही प्रभाव अधिक है। ग्येटे, टाल्स्टाय और चेकाफ आदि लेखकों की कहानियों में व्यक्तिगत जीवन के प्रतिदिन के सुख-दुख के जो कारुणिक और सत्तात्मक चित्र अङ्कित पाए जाते हैं, रवीन्द्रनाथ की कहानियों में उनका आभाव कहाँ ! वास्तविक व्यक्तिगत वेदना की अनुभूति से रवीन्द्रनाथ ने कोई भी कहानी नहीं लिखी है। उनकी कहानियों से

कविताओं में अधिक सत्तात्मक और व्यक्तिगत भाव पाये जाते हैं। वर्त्तमान युग में 'छोटी कहानी' नाम की यह तो एक नई ललित कला आविर्भूत हुई है, इसकी विशेषता यही है कि यह व्यक्ति के प्रतिदिन के साधारण जीवन की वास्तविक वेदना की सत्ता को यथार्थ रूप में अंकित करके, अनन्त की सत्ता के साथ मिला देने में समर्थ होती है। मनुष्य का प्रतिदिन का जीवन कोई भौतिक लीला नहीं है। वह सत्य है, वह वास्तविक है। कविता में भले ही उस जीवन की छाया प्रदर्शित की जाय, किन्तु कहानी में उसकी वास्तविक सत्ता प्रकट होनी चाहिए। रवीन्द्रनाथ यद्यपि व्यक्ति के सत्तात्मक जीवन के बड़े पक्षपाती रहे हैं, तथापि उनकी अधिकांश कहानियों में हम छाया ही पाते हैं। यद्यपि वह छाया अत्यन्त सुन्दर तथा अनुपम है, तथापि उससे कहानी की विशेषता खर्व हो जाती है।

शरच्चन्द्र की कहानियों में व्यक्ति के जीवन की सत्ता यथार्थ रूप से प्रस्फुटित हुई है। उनकी 'विन्दूर छेले', 'रामेर सुमति', 'मेज दीदी' आदि कहानियों में प्रतिदिन के साधारण जीवन की वास्तविक सत्तात्मक वेदना ही मथित हुई है।

हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द्रजी की कहानियों ने ख्याति प्राप्त की है। उनकी कहानियाँ शिक्षा प्रधान हैं; पर उनमें से कुछ ऐसी भी हैं, जो सत्तात्मक और सुन्दर हैं। उदाहरण के लिए उनकी 'सौत' शीर्षक कहानी पढ़िए। यह कहानी भाव प्रधान है, इसलिए इसकी सुन्दरता अपूर्व रूप से खिल उठी है।

कहानी के मूल भावों का सम्बन्ध हृदय से होना चाहिए, मस्तिष्क की कूट बुद्धि से नहीं। उसका उद्देश्य रसावेग के उभाड़ने का होना चाहिए, शिक्षा वृत्ति को जागरित करने का नहीं। उनमें कामिनी की कमनीयता और समुद्र की गम्भीरता होनी चाहिए, पुरुष की रूक्षता और पहाड़ की कठोरता नहीं। वह सत्तात्मक होनी चाहिए छायात्मक नहीं।

(१६२७)

हमारे राष्ट्र का भावी साहित्य और संस्कृति

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होगी कि हमारे राष्ट्र की वर्तमान संस्कृति तनिक भी गर्व करने योग्य नहीं है। इधर कुछ वर्षों से देश में एक नयी जागृति की लहर उठी है। इसमें सन्देह नहीं कि एक नूतन स्फूर्ति, अपूर्व चैतन्य, देश के प्राणी-मात्र में संचरित हुआ है; पर इस उन्मीलन का स्वरूप मुख्यतः राजनीतिक है। यह आवश्यक अवश्य है, पर निगूढ़ शिक्षा और विशुद्ध संस्कृति से उसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। असल बात यह है कि इस समय समस्त संसार का चक्र ही इस गति और नियम से चल रहा है कि उसके निपीड़न में अनेक युगों की साधना से प्रतिष्ठित संस्कृति और साहित्य प्राणहीन, निस्पन्द-से हो गये हैं। यदि वर्तमान युग को राजनीतिक युग कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी। राजनीति के बिना कोई भी सभ्य समाज किसी भी युग स्वाथ में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, इसमें सन्देह नहीं; पर यह युग स्वार्थ से भरी हुई अत्यन्त हलके ढङ्ग की ओछी, पोपली राजनीति के तुच्छ धूम्रोद्गार से समस्त विश्व-प्रकृति को आच्छादित कर लेने की झूठी धमकी देता है। इस युग की हाय-हत्या से ऐसा भास होने लगता है, जैसे मानव जीवन का अन्तिम और श्रेष्ठतम आदर्श केवल राजनीति की स्वार्थपूर्ण खींचा-तानी में ही परिपूर्ण होता है। जीवन के निगूढ़ आध्यात्मिक तत्व पर, अतींद्रिय ऐथरेय (Ethereal), रहस्य पर, मानवात्मा की चिरकालिक साधना पर, सभी देशों, सभी जातियों का विश्वास ही एक तरह से हट गया है। यही कारण है कि विगत महायुद्ध के बाद संसार भर में अभी तक कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण साहि-

त्यिक अथवा दार्शनिक रचना नहीं निकली, जो मानव मन की अन्तर-तम, शाश्वत साधना पर प्रकाश डालती हो। इस सम्बन्ध में एक मात्र अपवाद हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पर उनकी बात छोड़ दीजिये। वह इस युग के व्यक्ति हैं ही नहीं। वह हर वक्त इस युग की राजनीति से अपना मस्तक ऊपर आकाश में उठाये रहते हैं; पर अब उनकी रचनाओं के प्रति भी यूरोप और अमेरिका में लोगों की उतनी श्रद्धा नहीं रही। इस युग के आदर्श हैं—बरनार्ड शा। राजनीति और व्यापार के चक्र से जिन जातियों के हृदय का रस निचोड़ लिया गया है, वे ही इस नीरस लेखक के शुष्क, अर्थहीन साहित्य में आनन्द पा सकते हैं।

ऊपर की भूमिका से मेरा आशय यह है कि हमारे राष्ट्र का भाग्य भी वर्तमान संसार की राजनीतिक जटिलता से सम्बन्धित है इसलिए वह भी आभ्यन्तरिक संस्कृति की संपूर्ण उपेक्षा करके उसी आबहवा में बह जाने के चिन्ह प्रकट कर रहा है। ये लक्षण अच्छे नहीं। यदि राजनीतिक महत्वाकांक्षा के साथ-ही-साथ समानान्तर रेखा में भीतरी संस्कृति का विकास, पूर्ण स्वाधीनता से न होने दिया जायगा तो सुदूर भविष्य में किसी विशेष महत्वपूर्ण परिणाम में हम नहीं पहुँचेंगे, यह निश्चित है।

अब प्रश्न यह है कि हमारी भावी संस्कृति और साहित्य का विकास किस रूप में हो? मैं आप लोगों को कोई नया मार्ग, कोई नवीन आदर्श दिखाने का दुस्साहस नहीं कर सकता। हमारे पूर्वजों ने जिस उज्ज्वल प्रतिभापूर्ण जीवन का महत् आदर्श जिस अमर संस्कृति का श्रेष्ठ निदर्शन हम लोगों के लिए छोड़ दिया है, उसी को फिर से सम्पूर्ण आत्मा से अपनाने का प्रस्ताव मैं आप लोगों के मनन के लिए उपस्थित करता हूँ। जिस प्रकार ग्रीक और रोमन युगों में दो अपूर्व सभ्यताओं की परिणति संसार ने देखी है; उसी प्रकार रामायण और

महाभारत के युगों में भी भारतवर्ष में दो परिपूर्ण सभ्यताओं ने अपना अप्रतिहत रूप विश्व को दिखाया था। विशेषतः महाभारत-युग की बात मैं कहना चाहता हूँ। इस युग में भारतीय संस्कृति जिस परिपूर्णता को पहुँच गयी थी, वह 'न भूतो न भविष्यति' थी,—इसमें संशय की कोई गुञ्जाइश नहीं है। यह-युग वीरता का उतना नहीं, जितना ज्ञान और प्रतिभा का था। शक्तिपूर्ण ज्ञान को उस समय के वीरों ने प्रत्येक रूप में निःसंशय द्विधारहित होकर अपनाया है। नीति, अनीति और दुर्नीति की किसी झिझक ने उनके आदर्श की खोज में बाधा नहीं पहुँचायी। यही कारण है कि शक्ति और ज्ञान को उन्होंने चरमावस्था में पहुँचाया और प्रतिभा में जन्म लेकर प्रतिभा में ही वे विलीन हो गये !

महाभारत के वीर वाह्य-जगत् में जीवन-भर राजनीति के चक्र में ही घूमते रहे; पर अंतर्जगत के प्रति एक पल के लिए भी उन्होंने उपेक्षा नहीं दिखायी। मैं इसी आदर्श के प्रति आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। राजनीतिक अवस्थाएँ युग-युग में—और आज-कल तो वर्ष-वर्ष में—बदलती रहती हैं; पर मानव-मन की संस्कृति शाश्वत, चिरंतन सत्य है।

महाभारत युग की संस्कृत में क्या विशेषता थी ? उसका अनुसरण किस ढङ्ग से हमें करना होगा ? उसका उत्तर पाने के लिए हमें अत्यन्त निष्पक्ष भाव से प्रेरित होकर कठिन परिश्रम पूर्वक महाभारत का अध्ययन और मनन करना होगा ! जिस प्रकार कोई इतिहासज्ञ ऐतिहासिक सत्य की खोज के लिए किसी विशेष संस्कृति-द्वारा अन्ध न होकर निर्विकार हृदय से अध्ययन करता है, जिस प्रकार कोई कीटतत्ववेत्ता बिना किसी उपयोगिता की दृष्टि से केवल विशुद्ध सत्य के ज्ञान की लालसा से प्रेरित होकर कीट-जगत के भीतर प्रवेश करता है, उसी प्रकार समस्त धार्मिक तथा नैतिक कुसंस्कारों को वर्जित करके

हमें अमिश्रित, निष्कलंक सत्य के अन्वेषण की कामना से महाभारत के गहन-वन में प्रवेश करना होगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर आप देखेंगे कि वह युग कितना स्वाधीन, कैसा निर्द्वन्द्व, स्वच्छन्द था! आप क्या वेद निन्दक हैं! आइये, आप इस कारण महाभारत के वीरों के समाज से कदापि बहिष्कृत नहीं हो सकते, यदि आपमें कोई वास्तविक शक्ति वर्तमान है। आप क्या हीनवंशज हैं? कोई परवा की बात नहीं; आपकी आत्मा में यदि पराक्रम का एक भी बीज है, तो यहाँ सहर्ष ये लोग आपका स्वागत करेंगे। आप क्या जुआरी हैं? घबराइये मत; आपके हृदय में कोई सच्ची लगन है, तो ये लोग कदापि आपको दूषित नहीं समझेंगे। पाँच पतियों के होते हुए भी इन्होंने द्रौपदी को सीता के समकक्ष स्थान दिया है, ये ऐसे आत्मविश्वासी, शक्तिशाली महात्मागण हैं। बाह्याचार की दृष्टि से अनेक अक्षम्य दोषों के होते हुए भी उन्होंने समस्त संसार के मुख से यह स्वीकार कराया है कि पंच पाण्डव देवता तुल्य प्रतिभाशाली पुरुष थे।

मैं महाभारत से आप लोगों को क्या शिक्षा लेने के लिए कहता हूँ? सत्य बोलो, प्राणियों पर दया करो, क्रोध का त्याग करो, व्यभिचार से अलग रहो, जीव-हित में लगे रहो, ये सब अत्यन्त साधारण, रात-दिन के गार्हस्थ्य जीवन में लागू होने वाले उपदेश आपको एक अत्यन्त तुच्छ स्कूल पाठ्य-पुस्तक में मिल सकते हैं। युग-विवर्तनकारी महाभारत-कांड से, आपका इन क्षुद्रातिक्षुद्र नीति-वाक्यों से लाख गुना अधिक महत्वपूर्ण तत्वों को प्रत्याशा करनी चाहिए। महाभारत इन उपदेशों को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। उक्त महाकाव्य में सर्वत्र समाज के बाह्याचार के नियमों की ध्वंसलीला ही दृष्टिगोचर होगी। सब देशों ने, सर्वकाल ने, धर्म और नीति के जो तत्व प्रतिपादित किये हैं, महाभारत के मनीषियों ने उनके प्रति वृद्धांगुष्ठ प्रदर्शित करके प्रबल फूत्कार से उन्हें उड़ा दिया है। संसार भर को

साहित्य और इतिहास छान डालिये। आपको कहीं भी ऐसा दृष्टांत नहीं मिलेगा, जिसमें किसी अत्यन्त उन्नत चरित्र तथा आदर्श-स्वरूप प्रमाणित का गयी और मानी गयी स्त्री के पांच-पति हों। यह तथ्य यदि सत्य था, यदि वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से द्रोपदी के पाँच पति थे, तो भी कोई डरपोक लेखक अपने काव्य में इस बात को गर्व के साथ प्रकट न करता, बल्कि छिपाता। यदि यह बात सत्य नहीं, एक रूपक-मात्र है, तो इससे कवि का साहस और भी अधिक दुर्जय होकर प्रकट होता है— वह एक ऐसी काल्पनिक बात को अपना आदर्श बना गया है, जो साधारण नैतिक दृष्टि में अत्यन्त निन्दनीय है। पर वह तो लोकोत्तर पुरुषों का (देवता नहीं) अगम्य चरित्र चित्रित करना चाहता था और साथ यह भी चाहता था कि साधारण जन-समाज भी लोकोत्तर महापुरुषों के बुद्धि के निकट तक पहुँच जाये। महाभारत से पता चलता है कि वेदव्यास घोर व्यभिचारी थे और धृतराष्ट्र तथा पांडु अपने बाप के लड़के नहीं थे। वेदव्यास के वरेण्य पिता अंध कामुक थे। पांडव—हां, महाभारत के मुख्य नायक पांडव भी—अपने पिता के पुत्र नहीं थे; यद्यपि इस तथ्य को कवि ने रूपक के छल से किसी अंश तक छिपाने को चेष्टा की है। और पांडवों की श्रद्धेया माता कुन्ती कौमार्यावस्था में ही एक पुत्र प्रसव कर चुकी थीं। (कर्ण की उत्पत्ति सूर्य के समान तेजस्वी किसी लोकोत्तर पुरुष से हुई थी, यह निश्चित है कवि ने उसे स्वयं सूर्य बतला कर इस घटना पर गम्भीरता का पर्दा डाला है; ताकि कर्ण जैसे वीर का जन्मोत्सव कोई हँसी में न उड़ाये।)

मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूँ कि इन सब बातों को आप तर्क के किस ब्रह्मास्त्र से उड़ा देना चाहते हैं? मैं प्रार्थना करूँगा कि इन्हें यथारूप स्वीकार कीजिये। इनसे यही पता चलता है कि या तो वह युग घोर बर्बर-युग था, या ज्ञान की उन्नततम सीढ़ी पर चढ़ चुका था। धन्य है उस कवि के साहस को, जिसने कोई बात न छिपायी; क्योंकि वह विश्वात्मा के अंतरतम केंद्र में पहुँच चुका था,

और जिसने केन्द्र पकड़ लिया हो; उसे वृत्त की बाहिरी परिधि से क्या सरोकार? बल्कि परिधि के बाहर जाने में ही उसे आनन्द प्राप्त होता है। महाभारत के महात्माओं का लक्ष्य प्रकृति के बाह्य रूप को छेदकर उसके अंतस्तल पर लगा हुआ था; इसलिए वे अत्यन्त अन्यमनस्क होकर बाह्य नियमों का पालन करते थे। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वह प्रतिभा का युग था। बुद्धि जब पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, तो वह सृष्टि की भी अपूर्व लीला दिखाती है और संहार की भी। सृजन में उसे जो आनन्द होता है, विनाश में भी वह उसी को अनुभव करती है। महाभारत के प्रकांड युद्धकांड ने कर्म और ज्ञान के जिस सूक्ष्म तत्व का सृजन किया, वह अब तक अज्ञात रूप में हमारे रक्तकणों में संचारित हो रहा है। और संहार तथा विनाश का जो रूप उसने दिखाया, उसके सम्बन्ध में कहना ही क्या है।

अपने ही रक्त से सम्बन्धित लोगों की हत्या का उपदेश कृष्ण के अतिरिक्त और किस धर्मोपदेशक ने दिया है? नीति, दया, हिंसा तथा अहिंसा की दृष्टि से इसकी सफाई देना मूर्खता का द्योतक होगा। मैं कह चुका हूँ कि यह विश्वात्मा के अत्यन्त गूढ़तम प्रदेश में दृष्टि डालने वाली प्रतिभा का ही ध्वंसोपदेश है। वेद की निन्दा आप इस विश शताब्दी में भी करने का दम नहीं भर सकते, पर गीताकार को देखिये? वह कैसे छू-मन्तर से उसे उड़ा देता है! किसी सहृदय जटिल मानसिक स्थिति-सम्पन्न व्यभिचारी का चरित चित्रण करने का साहस अनीति के युग में भी आपको नहीं होगा, क्योंकि धर्मात्मा आलोचक अथवा नीतिनिष्ठ सम्पादकगण आपको संत्रस्त करेंगे; पर महाभारतकार का आत्मबल देखिये। वह एक ऐसे जुआरी को धर्मराज की पदवी देता है, जो अपनी स्त्री तक को हार गया! बात यह है कि उसका निष्कलुष हृदय बाह्य-दोषों को न देखकर अपने चरित-नायक की भीतरी प्रतिभा को परखता है। नीतशे

के Ubermensche (लोकोत्तर पुरुष) का काल्पनिक आदर्श भी महाभारतकार के प्रत्यक्ष सत्य चरित्रों के अगम्य रहस्य के आगे निस्तेज पड़ जाता है ! पाश्चात्य जगत अभी तक कृष्ण के युग को असभ्य युग समझता है और हम लोग अन्ध-भक्ति से उसे श्रेष्ठ मानते हैं। दोनों भ्रामरी माया के फेर में हैं। इतिहासकारों के कथनानुसार भारत युद्ध को ४००० वर्ष व्यतीत हो चुके। क्या उसका मर्म समझने के लिए चार हजार वर्ष और बीतेंगे ! आश्चर्य नहीं।

ज्ञान और शक्ति किसी भी रूप में हो उन्हें ग्रहण करो,यही उपदेश इस समय हम कृष्ण-युग से ले सकते हैं। तभी वास्तविक संस्कृत के पास हम पहुँच सकेंगे। पाश्चात्य जगत् आज बुद्धि और शक्ति में हमसे कई गुना अधिक श्रेष्ठ इसीलिए है कि उसने अनजान में इस मूल रहस्य को पकड़ा है। किसी निन्द्यवृत्ति में भी वहाँ के मनीषियों को यदि यथार्थ शक्ति का आभास मिला है, तो उन्होंने उसी दम उसे अपनाया है, पर हम लोग अपनी दुर्बल धर्म-नीति का पचड़ा लेकर पग-पग में झिझक, बात-बात में द्विविधा और असमंजस के फेर में पड़े हैं। साहित्य को ही लीजिए। हम लोग चाहते हैं, कि उसमें भी हमें धर्मोपदेश के भाव मिलें। पर ग्रीक ट्रैजेडियों में और शेक्सपीयर के श्रेष्ठ नाटकों में व्यभिचार, घृणा, क्रोध और प्रतिहिंसा की ज्वाला के अतिरिक्त हम क्या पाते हैं ? तब क्यों संसार ने ऐसी रचनाओं को सिर माथे चढ़ाया है ? असल बात यह है कि उपर्युक्त वृत्तियों में भी एक ऐसी शक्ति छिपी है, जिसे साधारण मनुष्य देख नहीं पाता, पर कवि या दार्शनिक उस सुप्त शक्ति को जागरित करके पाठकों की आत्मा में एक अपूर्व बल संचारित कर देता है। नीत्शे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Also Sprach Zarathustra में कहता है—"तुम लोगों का सर्वश्रेष्ठ अनुभव क्या हो सकता है ? वह मुहूर्त जिसमें तुम्हारे हृदय में महत् घृणा उमड़ती है।" घृणा हेय नहीं है, उसमें

भी शक्ति है, अधिकारी और पारखी का सवाल है। प्रसिद्ध ग्रीक नाटककार सोफाक्लीज की सर्वश्रेठ रचना Oedipus में एक ऐसे दिल दहलाने वाले व्यभिचार का विकट वर्णन है कि उसका स्पष्ट उल्लेख करने से अनेक पाठक मुझे फाँसी देने का पस्ताव करेंगे। स्वयं मेरी लेखनी को साहस नहीं होता, पर इस निन्दनीय व्यभिचार के नायक के उच्छलित भावावेग का क्रन्दन ऐसी खूबी से नाटककार ने दिखाया है कि उसके प्रति समवेदना स्वतः उमड़ उठती है। इस व्यभिचार से जिस कन्या की उत्पत्ति हुई है, उसके चरित्र के महात्म्य से सारा यूरोपीय साहित्य आप्लुत है। शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों में पाप के मथन से जिस प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का प्रवेग प्रवाहित हुआ उससे सभी पाश्चात्य काव्यमर्मज्ञ परिचित हैं। इन नाटकों में केवल हत्या, प्रतिहिंसा और घृणा का विस्फूर्जन और गर्जन हुंकृत हुआ है। फिर भी इनमें अगाध रस का अत्यन्त स्रोत कहाँ से उत्पादित हुआ है ? कारण वही है जो मैं ऊपर बता चुका हूँ। निखिल प्राण की रहस्मयी शक्ति उनमें छिपी है। पाप भी यदि शक्ति-पूर्ण है, तो वह श्रेष्ठ है, पुण्य भी यदि दुर्बल है तो वह तुच्छ है। रूस के प्रसिद्ध कवि पुश्किन ने कहा है—"अधर्म सत्य से वह असत्य कई गुना अधिक श्रेष्ठ है, जो हमारी आत्मा को उन्नत, जाग्रत करता है।" नीत्शे कहता है—पाप मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। × × × श्रेष्ठ पाप ही मेरा श्रेष्ठ परितोष है ; × × × मनुष्य अधिकतर उन्नत और विकटतर पापी (besser and bosser) बने, मैं यही शिक्षा देता हूँ।" साधारण मनुष्य तुच्छ पाप और तुच्छ पुण्य को तौलकर अपना जीवन यापन करता है, इसलिए उसके लिए पाप से बच-बचकर चलना बहुत आवश्यक है। ऐसे संसारी पुरुष को कभी कोई पाप में जकड़ने का उपदेश नहीं दे सकता, पर उद्धत प्रतिभाशाली पुरुष सांसारिक भले-बुरे के बिलकुल परे है, इसलिए वह वृहत् पाप को ही अपने उन्नत आदर्श का सम्बल-स्वरूप बनाकर महा

प्रस्थान की ओर दौड़ता है। सांसारिक पुरुष प्रतिदिन के सुख-दुःख को लेकर ही व्यस्त हैं; पर प्रतिभाशाली इन बन्धनों को नहीं मानना चाहता और इनसे बहुत परे दृष्टि रखता है। राष्ट्र की वास्तविक संस्कृति इन इने-गिने लब्ध-प्रतिभ मनीषियों के द्वारा ही प्रतिष्ठित होती है; इसलिए उन्हीं के लिए मेरा यह लेख है। विशेष करके उन नवीन हृदय, तरुण महात्माओं के प्रति मैं निवेदन कर रहा हूँ, जिनकी अन्तर्निहित प्रतिभा भविष्य में राष्ट्र को आलोकित करेगी।

प्रतिभा अत्यन्त रहस्यमयी है। वह जब अपनी दुर्बलता भी प्रकट करना चाहती है, तो वह वज्र से भी अधिक सबल, समुद्र के गर्जन से भी अधिक प्रलयंकर होकर व्यक्त होती है। रूसो की स्वीकारोक्तियाँ, डास्टाएव्सकी के उपन्यास, स्ट्रिन्डबेर्ग के नाटक इसके दृष्टांत-स्वरूप हैं। गेटे का "फौस्ट" भी अपनी दुर्बलता के कारण अमर शक्तिशाली प्रतीत होता है। इस दुर्बलता का वर्णन काउन्ट ने अपनी 'दो आत्माओं के सम्बन्ध की प्रसिद्ध Soliloqoy (स्वागत् भाषण) में अत्यन्त सुन्दरता पूर्वक किया है। लेख के बढ़ जाने के भय से इनका अनुवाद मैं यहाँ पर नहीं दे सकता। अपने पिछले किसी लेख में दे चुका हूँ। अपनी दुर्बलता का सहारा लेकर बायरन ने 'चाइल्ड हेरल्ड' जैसे वीर काव्य की रचना की है।

बायरन का उल्लेख करते हुए मुझे स्वामी रामतीर्थ की एक बात याद आयी है। उन्होंने कहा है कि बाह्य-दुर्बलताओं से कभी मनुष्य की वास्तविक प्रकृति पर विचार नहीं करना चाहिए। इसके दृष्टान्त-स्वरूप उन्होंने बायरन को लिया है। सभी साहित्य-रसिकों को मालूम होगा कि इङ्गलैंड में बायरन के ऊपर एक अत्यन्त बीभत्स लाञ्छन लगाया गया था, जिसका निराकरण अब भी नहीं हुआ है और जो पाश्चात्य नीतिनिष्ठों के हृदय में अब भी विभीषिका उत्पन्न करता है। इस सम्बन्ध में एक भारतीय महात्मा का कहना है कि हमें

बायरन को इस वाह्यनीति की दृष्टि से नहीं देखना होगा, उसकी प्रतिभा इसके परे थी ! 'डान जुश्रान' के लेखक के प्रति यह उदार भाव एक वास्तविक वेदान्ती के ही योग्य है !

इन सब बातों से मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि राष्ट्र के प्राणों में यदि हम उच्चतम-संस्कृति का बीज बोना चाहें, तो हमें पाप-पुण्य, अंधकार, आलोक सभी तत्वों को अपनाना होगा। सब प्रकार के भावों को ग्रहण करके उनमें से ज्ञान, प्राण और शक्ति को शोषना होगा। कल्चर शब्द कृषि और कर्षण का पर्यायी है। सभी जानते हैं कि अच्छी कृषि के लिए अधिक और सारवान खाद की आवश्यकता होती है। और खाद ऐसी चीज है, जो अधिकांशतः कोई शुद्ध, परिष्कृत वस्तु नहीं होती; इसलिए मैं कहता हूँ, कि केवल निर्मल नीति को जकड़े रहने की चेष्टा अनुर्वरता का परिचायक है। हमारी संस्कृति सृष्टि-रूपिणी होनी चाहिए, बंध्या नहीं। यदि गंदगी में भी हमें ज्ञान, प्राण और शक्ति का बोध होता है, तो निःसंशय होकर उसकी जड़ खोदनी होगी। अपनी पुनीत नीति को वाह्य स्पर्श से अछूता रखने के लिए अत्यन्त सावधान होकर बच-बचकर चलने की चेष्टा अत्यन्त हास्यपद और जड़ मोहात्मक है। हमारी वर्तमान जड़ता का कारण ही यही है हमें निर्द्वन्द्व, द्विविधाहीन, निःसंशय होकर ज्ञान के समस्त उद्गमों को खोदना होगा। 'संशयात्मा विनश्यति।'

पाप का प्रचार इस लेख का उद्देश्य कदापि नहीं है। जन-साधारण के लिए यह लेख मैंने लिखा भी नहीं। केवल इने-गिने प्रतिभाशाली प्रतापियों के प्रति ही मैंने निवेदन किया है। उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे दोनों पहलुओं पर विचार करके मेरे लेख का निर्णय करें। मेरी कई बातों पर गलत-फहमी होने की बहुत सम्भावना है। लेख का विषय ही ऐसा है।

नीत्शे ने अपनी एक पुस्तक के प्रारम्भ में लिखा है—"Fur alle und keinen" (सब के लिए और किसी के लिए नहीं।) मैं भी अपने क्षुद्र लेख के अन्त में यही बात घोषित करने का दुस्साहस करता हूँ।

१६३१



जन-साधारण के साहित्य का आदर्श

"सभी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ, जिनमें दया और उदारता भी सम्मिलित हैं, जब निर्विचार रूप से समाज में प्रचारित की जाती हैं, तब वे उतनी ही हानिकर बन जाती हैं, जितनी कि वे अपनी प्राथमिक अवस्था में लाभकर होती हैं।"—रूसो

इधर कुछ दिनों से मैं साहित्य-चर्चा से हाथ खींच चुका था। इसके कई कारण थे, जिनमें एक यह भी था कि कुछ विशेषज्ञों ने मेरी साहित्य-सम्बन्धी उक्तियों पर दाम्भिकता का अभियोग लगाकर उन्हें निन्दनीय सिद्ध कर दिया था। उन महानुभावों की महनीय सम्मति को सिरमाथे रखकर मैंने इस सम्बन्ध में 'मौनं हि शोभनम्' समझकर चुप्पी साध ली थी। इसके अतिरिक्त एक बात और है। मैंने देखा कि जो नवीन युग दुर्दमनीय अशान्ति से गर्जन करता हुआ राजनीतिक क्रान्ति की फुफकार और सामाजिक विद्रोह की हुङ्कार के साथ विश्वगगन को शताब्दियों की संचित धूलि से आच्छन्न किये हुए हैं, उसमें वास्तव में साहित्य, कला और सौन्दर्य के लिए कहीं कोई स्थान नहीं रह गया है।

स्थायी साहित्य किसी सामाजिक स्थिति के परिवर्तन के युग में नहीं पनप सकता। इस कारण से भी साहित्यालोचन से मुँह मोड़ लेना मैंने श्रेयस्कर समझा था। इस बीच नाना साहित्यिकों ने सामयिक पत्रों में काव्य-कला तथा साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में बहुत-सी सनसनी-खेज साहित्यिक 'थिओरियों' को विश्लेषित और भाष्यीकृत किया। पर मैंने उस पर कोई टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं समझी। साहित्य की सामाजिक उपयोगिता, मजूर तथा हरिजन साहित्य के उत्पादन की आवश्यकता पर भी नये खूनवाले साहित्यिकों ने बहुत-कुछ लिखा। गरज यह कि साहित्य-चर्चा किसी न किसी रूप में हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में चलती रही, बन्द न हुई। इन तत्वज्ञों की महत्वपूर्ण वाणी के बीच अपने कटु कर्कश कथन की कोई उपयोगिता मैंने न समझी। पर इस बार जब मेरे मित्र श्री अखतर हुसेन रायपुरी ने लेनिन-जैसे विश्वक्रान्तिकारी महानायक की साहित्यिक महावाणी का लम्बा-चौड़ा उद्धरण देकर 'साहित्य और क्रान्ति' के शीर्षक से एक लेख लिखकर साहित्य की समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन परिभाषाओं को ठुकराकर नवीनयुग को अभिनूतन विचारधारा के विद्रोहात्मक प्रवेग से मुझे भयभीत कर दिया तो अपने भय के भूत को भगाने के लिए उसके सम्बन्ध में मुझे लिखने को बाध्य होना पड़ा है।

'प्रोलेटेरियन' साहित्य की आवश्यकता तथा साहित्य के 'प्रोलेटेरियन' स्वरूप की उपयोगिता पर आज नहीं, फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के समय से ही विशेष श्रेणी के लोगों का ध्यान गया है। रूस में जार-शाही के जमाने में भी इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा था कि साहित्य को साधारण जनता के मस्तिष्क और मन की पहुँच तक लाना चाहिए। धीरे-धीरे इस विचार का प्रचार बढ़ता चला गया और जब रूस में सोवियट शासन की स्थापना हुई तो संसार ने उस विचार को व्यवहारिक रूप में परिणत होते देखा।

सोवियट शासन की प्रारम्भिक अवस्था में रूस में जिस साहित्य का

उत्पादन हुआ है उसे यदि हम प्रोलेटेरियन साहित्य के आदर्श-स्वरूप मान लें, और समझ लें कि साधारण जनता को केवल उसी श्रेणी के साहित्य में रस मिल सकता है तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रोलिटेरियट श्रेणी के लोग अत्यन्त शुष्क हृदय, भावुकता-रहित और नीरस होते हैं। पर सोवियट युग से पूर्व के रूसी लेखकों ने (यहाँ तक कि गोर्की ने भी—(जिसे रूस की वर्तमान प्रोलेटेरियन जनता भी लेखक मानती है) रूसी किसानों और मजदूरों का जैसा चरित्र चित्रण किया है, उससे तो यही पता चलता है कि उनके अन्तस्तल में भाव का अजस्र स्रोत निरन्तर बहता रहता है—भले ही परिस्थितियों के फेर तथा सांस्कृतिक विकास के अभाव से उस भाव-धारा में अनेक समय विकृति पायी जाती रही हो। केवल प्रेम और करुणा ही हृदय के भाव नहीं हैं, घृणा तथा प्रतिहिंसा भी भावुक हृदय की आवेगमयी प्रवृत्तियाँ हैं, जो काव्य-रस से पूर्ण हैं। हमारे अलंकार-शास्त्रियों ने इसीलिए वीभत्स, रौद्र, भयानक आदि रसों को काव्य का विषय माना है। गरज यह कि रूसी प्रोलेटेरियट में अन्यान्य सभी देशों की साधारण जनता की तरह भावावेगमयी रसपूर्ण प्रवृत्तियाँ पूर्णतः निहित हैं और अपने अन्तस्तल में वह उसकी स्पन्दनमयी चेतना की आवश्यकता अनुभव करती है। इसलिए सोवियट रूस में जो प्रचारात्मक शुष्क, नीरस, बुद्धि-सम्बन्धी गहनताओं से एकदम रहित, बच्चों के खेल का साहित्य पनपा उससे वहाँ की जनता की भावुक मनोवृत्ति भूखी ही रह गयी। इसमें सन्देह नहीं कि इस मनोवृत्ति को मूलतः दबाने का पूर्ण प्रयत्न कम्यूनिस्ट कार्यकर्ताओं ने किया और तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति को देखते हुए उनकी यह चेष्टा किसी अंश में आवश्यक भी मानी जा सकती है, पर हमारे कहने का मतलब केवल यही है कि उसे बिलकुल दबा देने की चेष्टा मानवी प्रकृति को उलट देने का व्यर्थ प्रयास था, और अब उस गलती को रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी खूब अच्छी तरह महसूस करने लगी है। खैर।

मैं कह रहा था कि जन-साधारण के हृदय में भावुकता का आवेग काव्यात्मक रस की पिपासा किसी भी उच्च तथा अल्प श्रेणी की जनता से किसी अंश में भी कम नहीं होती। हमारे मित्र श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारत के विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण करके जिन ग्राम्य-गीतों का संग्रह किया है, उन्हें पढ़ने से कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि प्रेम तथा रोमान्स की हवाई दुनियाँ में जिस हद तक हमारे किसान भाई उड़ा करते हैं, उच्च-शिक्षा तथा संस्कृति-प्राप्त विद्वज्जन उसका क़यास भी नहीं कर सकते। रूस के किसान कवियों तथा जिप्सियों के गीतों तथा कविताओं में उन्मद रसावेग की प्रबलता से पुश्किन, टाल्सटाय तथा तुर्गेनिव को जो प्रेरणा मिली थी वह उनकी बहुत-सी रचनाओं में अमर रूप धारण कर गयी है। टाल्सटाय ने सबसे पहिले 'कज़्ज़ाक' शीर्षक कहानी लिखकर ही वास्तविक प्रसिद्ध पाई थी। इस कहानी में प्रोलेटेरियट श्रेणी के लोगों का जीवन-चक्र वर्णित होने पर भी जो रोमांस भरा हुआ है वह अद्वितीय है। कहने का मतलब यह कि यदि किसी को यह धारणा हो कि 'कामरेड' लोगों के उपयुक्त साहित्य की सृष्टि करने के लिए केवल उनकी भूख प्यास की तड़पन दिखाने, उनके कठिन परिश्रम-क्लिष्ट जीवन के असहनीय कष्टों का खाका खींचने की ही आवश्यकता है, तो इस पर हमारी यह तुच्छ सम्मति है कि इस प्रकार के साहित्य से उनके कर्मज्वर जर्जरित हृदय के लिये फीवर मिक्सचर भले ही तैयार किया जा सके, आनन्दमय अमृत कभी तैयार नहीं किया जा सकता। और इस अमृत की कितनी बड़ी आवश्यकता उनके श्रान्त क्लान्त, जीर्ण-शीर्ण मन को रहती है! उसके लिए वे कितना तरसते हैं!

इस विषय पर विद्वानों में अरसे से वाद विवाद चल रहा है कि किसान और मजूर श्रेणी के लोगों के लिये किस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है, और उच्च श्रेणी का साहित्य उनकी रुचि तथा मानसिक संस्कृति की आवश्यकता के लिए उपयुक्त है या नहीं। टाल्सटाय

ने प्रायः साठ साल पहले अपनी जगद्विख्यात What is Art (कला क्या है) शीर्षक पुस्तक में यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि साहित्य-कला सम्बन्धी वही कृति सबसे उत्तम समझी जानी चाहिए जिसे जनसाधारण अच्छी तरह समझकर उसमें पूरा-पूरा आनन्द ले सकें। रोमां रोलां टाल्सटाय के कला सम्बन्धी विचारों से बहुत कुछ अंश में सहमत न होने पर भी साहित्य की श्रेष्ठता की परख के इस कसौटी के पक्षपाती बन गये। इसी आदर्श को सामने रखकर उन्होंने 'जन-साधारण का रङ्ग-मंच' शीर्षक एक पुस्तक लिखी, जिससे जनता में बड़ी सनसनी फैल गयी। इस पुस्तक में रोमां रोलां साधारण श्रेणी की जनता की आन्तरिक रुचि और मानसिक प्रवृत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण करके इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शेक्सपियर के नाटक जन-साधारण की रुचि के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। इस अद्भुत मन्तव्य को सुनकर लोगों को अवश्य ही आश्चर्य होगा, पर रोमां रोलां का कहना है कि क्या हेमलेट, क्या ओथोलो, क्या जूलियस सीजर प्रत्येक नाटक मे वे अन्त तक ऐसी दिलचस्पी लेते हैं कि सुसंस्कृति श्रेणी की जनता उसका अन्दाज भी नहीं लगा सकती। जिस श्रेणी के साहित्य को कम्यूनिस्ट नेताओं ने बूर्जुवा साहित्य-कहकर तुच्छ मानकर श्रमिकों के लिए अनुपयुक्त करार दे दिया था, वास्तव में उसका कैसा प्रभाव उन लोगोंपर पड़ता है, रोमांरोलां की बात से यह जानकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है। स्वयं आज की सभी जनता रोमां रोलां की इस बात की सचाई सिद्ध कर रही है। मानवी प्रकृति की आदिम प्रवृत्ति को बदलना बहुत मुश्किल है। सामाजिक क्षेत्र में (अभिजात्या) का एकाधिपत्य चाहे कैसा ही अनिष्टकर क्यों न हो, मानसिक संस्कृति के क्षेत्र में उसके विकास की परम आवश्यकता है। वह 'कल्चर' ही नहीं जिसमें बुद्धि-सम्बन्धी आभिजात्य का भाव पूर्ण विकास को प्राप्त न हुआ। एक साधारण से साधारण श्रमिक भी व्यावहारिक क्षेत्र में भले ही हरिजन हो, पर अपने अन्तस्तल की

निगूढ़ रसावेगमयी प्रवृति की तृप्ति के लिए उसे जानकर या अनजान में अपने मानसिक जगत् में आभिजात्य वातावरण उत्पन्न करना पड़ता है, और वास्तव में वह ऐसा करता भी है।

किसी भी देश के लोक साहित्य पर दृष्टिपात कीजिये आप देखेंगे कि साधारण श्रेणी में सदा वे ही रचनायें लोकप्रिय हुई हैं जो हृदयावेग में, आभिजात्य भावों से पूर्ण हैं। प्राचीन ग्रीक समाज में 'इलियड' और 'ओडीसी' सबसे अधिक लोकप्रिय रचनायें थीं और प्रोलेटेरियन गायकों द्वारा गाँव-गाँव में उनका पारायण हुआ करता था। सभी जानते हैं कि उक्त दो महाग्रन्थों में केवल आभिजात-वंशीयों के युद्ध और सन्धि, राग-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा, घृणा-प्रेम आदि की आवेगमयी घटनाओं का ही विवरण है। तथापि साधारण जनता को युगों तक उन्हीं में अलौकिक आनन्द प्राप्त होता था। हमारे यहाँ तुलसीकृत रामायण सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। सभी जानते हैं कि इसमें किसानों और मजूरों के सुख-दुःख का वर्णन नहीं है, तथापि बूर्जवा लोगों से भी कई गुना अधिक आनन्द वे लोग उसमें लेते हैं। बैताल-पचीसी, क़िस्सा तोता मैना आदि लौकिक पुस्तकों में भी राजा और रानियों अथवा सेठ और सेठानियों का ही वर्णन है। तथापि हमारे प्रोलेटेरियन भाई उनमें जो स्वाद पाते हैं, यह अकथनीय है। यदि इन रचनाओं के बदले उन्हें कोई ऐसी कहानी पढ़ने को दी जाय जिसमें श्रमिकों के कर्मक्लान्त जीवन की कठिनाइयों का वर्णन हो तो यह बात दावे के साथ कही जा सकती है कि उन्हें वह रचना कभी नहीं जँचेगी। कारण स्पष्ट है। जिस हरिजनत्व की अवस्था में रहने को उन्हें सामाजिक परिस्थितियों द्वारा बाध्य किया गया है, जिसके कारण वे रात-दिन लौहचक्र के पेषण में पिसने के लिए मजबूर हैं, उसकी क्षतिपूर्ति के तौर पर वे अज्ञात रूप से अपने मानसिक जगत् में एक ऐसे उन्नत वातावरण की सृष्टि करना चाहते हैं जिसमें उनकी मानवीय वृत्तियों की निगूढ़ आकांक्षा

बन्धन-हीन अवकाशमय अवस्था में पूर्णतया चरितार्थ हो सके। व्यावहारिक जगत् की क्लिष्टता के बाद यदि मानसिक जगत् में भी उन्हें रूखे साहित्य की कठिनता में अपनी आवेगमयी अनुभूतियों को सुखाना पड़े तो इससे अधिक अत्याचार उन पर और कोई नहीं हो सकता।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि प्रोलेटेरियन जनता के लिए जिस साहित्य की सृष्टि की जाय उसमें उनके रात-दिन के सुख-दुःखमय जीवन का कोई उल्लेख ही न हो। प्रोलेटेरियन जीवन के सम्बन्ध में भी ऐसी-ऐसी रचनायें लिखी जा चुकी हैं जिनके कला कौशल की मोहनी ने साधारण जनता को विस्मय विमुग्ध किया है। उदाहरण के लिए गोर्की की रचनाओं का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा सकता है। गोर्की की प्रायः सभी रचनायें प्रोलेटेरियन जीवन से सम्बन्धित हैं। पर उनकी सारी तारीफ़ ही इस बात पर है कि उनमें गोर्की ने जन-साधारण के अन्तस्तल की मूल प्रवृत्तियों के पारस्परिक संघ के चित्रण द्वारा उनके पददलित, लांछित जीवन के भीतर दबे हुए आभिजात्य भावमय उन्नत आवेगों का विस्फूर्जन व्यक्त करने में कमाल किया है। उसकी प्रत्येक रचना केवल इसी एक कारण से महनीय है। यही कारण है कि गोर्की ने कभी अपनी रचनाओं को प्रोलेटेरियन साहित्य नहीं बताया। प्रोलेटेरियन लोगों का परम प्रिय कामरेड होने पर भी साहित्य के क्षेत्र में उसे 'प्रोलेटेरियन' शब्द से चिढ़ रही है।

रूस में सोवियट शासन होने के केवल एक वर्ष पूर्व गोर्की ने रोमां रोलां को लिखा था कि नवीन युग के लड़कों के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जिसे पढ़ कर इस विध्वंस और विनाश के युग में उन्हें जीवन के सुन्दर महामहिम और सुन्दर स्वरूप का अनुभव प्राप्त हो सके। उसी पत्र में गोर्की ने अपना यह विश्वास प्रकट किया था कि माइकेल एञ्जेलो-जैसे कलाकार तथा बीठोफेन जैसे सङ्गीतज्ञ की जीवनियों से प्रोलेटेरियन बालकों को सांस्कृतिक उन्नति में बड़ी सहायता मिलेगी। उसने रोमां रोलां से उक्त दो प्रतिभा-

शालियों की बालकोपयोगी जीवनियाँ लिखने के लिए विशेष अनुरोध किया और रोमां रोलां ने उसके अनुरोध की रक्षा भी की थी। सभी जानते हैं कि मांईकेल एञ्जलो और बीठोफेन (Beethoven), इन दोनों में से एक भी प्रोलेटेरियन नहीं था, और उनकी कला आभिजात्य भाव के रस में पूर्णतः शराबोर है। माइकेल एञ्जेलो को प्रस्तर-कला में किसान मजूरों के लिए कोई स्थान नहीं है और बीठोफेन के 'सोनाटा' और 'सिम्फोनियों की मर्मस्पर्शी, करुण-कोमल स्वर-लहरी में कहीं कहीं मार्क्सियन थिओरी का राग नहीं अलापा गया है, ये सब उच्च श्रेणी—अवकाश-प्राप्त श्रेणी—की संस्कृति के अनुकूल चीजें हैं। गोर्की को विश्वास था कि प्रोलेटेरियन जनता उनका रस पूर्णरूप से ग्रहण कर सकती है, उनसे उनकी मानसिक संस्कृत की उन्नति में (जिसकी परम आवश्यकता है) बहुत सहायता मिल सकती है।

आरम्भ में रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी ने सहित्य तथा कला सम्बन्धी समस्त उच्च श्रेणी की रचनाओं की छुआछूत के भय से वर्जित करके जिस रूखे-सूखे, हरिजन साहित्य का प्रचार आरम्भ किया था, इतने वर्षों के अनन्तर अब उस श्रेणी के साहित्य से वहां की जनता बेतरह ऊब उठी है। ऐसा होना स्वाभाविक था। श्री नित्यानन्द बनर्जी, जिन्होंने रूस में पर्यटन करके अपना भ्रमण वृत्तान्त पुस्तकाकार छपाया है इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि लोग संवादपत्रों, सभाओं, रेडियो तथा सिनेमा के जरिये से प्रचारित राजनीतिक प्रवचनों से उकता गये थे। वे नाटकों, उपन्यासों, काव्य तथा चित्रकला की ओर आकर्षित होने लगे। १९२९ में व्याचस्लोव पोलोन्सकी नामक लेखक ने विशिष्ट साहित्यिकों की एक सभा में कहा था—"हमारा काम उस मनोवृत्ति को नष्ट करने का है जो कलाकार को कुछ निर्जीव पदार्थों का एक बंडल मात्र समझती है। हम चाहते हैं कि कलाकार सामूहिक मानव की कलात्मक, मनोवैज्ञानिक, भावात्मक तथा आदर्शात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।"

अंगरेजी न जानने वाले पाठकों को केवल इतना ही बतला देना पर्याप्त होगा कि इस उद्धरण में उन लोगों का भाव ध्वनित होता है जो साहित्य-समाज में सुधार के पक्षपाती हैं। इस नवीन सुधारवादी दल की सम्मति में कलाकार तथा साहित्यिक का उद्देश्य राजनीतिक तथा सामाजिक क्रान्तियों का विश्लेषण अथवा प्रचार नहीं, बल्कि मानव मस्तिष्क के सौंदर्य मूलक, मनोवैज्ञानिक रसावेग तथा भावुकता संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति है। इसी सुधारवादी दल की यह भी राय है कि "रूसी कम्यूनिस्ट पार्टी को प्राचीन युग की सांस्कृतिक विचारधारा तथा साहित्यिक विशेषज्ञों के प्रति अविचारपूर्ण घृणा की प्रवृत्ति का प्रबल विरोध करना चाहिए और कोरे प्रोलेटेरियन साहित्य की मनोवृत्ति के विरुद्ध भी युद्ध करना चाहिए।"

रूस से जो नवीन समाचार आ रहे हैं उनसे पता चलता है कि वहाँ अब शिक्षित जन-साधारण की मनोवृत्ति रोमान्स तथा काव्यमय प्रेम की ओर झुकने लगी है। इसका अर्थ यही है कि वहाँ के लोग साहित्य तथा कल्पना के क्षेत्र में व्यक्ति की निजी सत्ता को स्वीकार करने लगे हैं, क्योंकि बिना व्यक्तिगत सुख दुःख की भावना के प्रेम और रोमान्स की अनुभूति स्वभावतः असम्भव है। सामाजिक शासन के क्षेत्र में समूहवाद का बड़ा महत्व है, सन्देह नहीं; पर काव्य-जगत् व्यक्तिवाद का महत्व स्वीकार करना ही पड़ेगा।

रूस ने सत्रह साल के अनुभव के बाद जो सबक सीखा है, हिन्दी-जगत् के नवीन साम्यवादियों पर उसका कोई असर पड़ेगा, इसकी आशा मुझे नहीं है, और मुझे पूरा विश्वास है कि अपनी सांस्कृतिक प्रगति की शैशवावस्था में ही हमारे वर्तमान साहित्य को अनिवार्यतः हरिजनत्व की ओर पीछे हटना पड़ेगा—क्योंकि हवा का रुख ही इस ओर है, इसमें कोई सन्देह नहीं। तथापि साहित्य के आदर्श को उन्नति तथा क्रान्ति के नाम पर उसकी मूलगत महत्ता, तथा निगूढ़, गम्भीर पवित्रता की भावना को साहित्यिक कट्टरता बतला कर जो लोग उसे

रूस के गिरजों की मूर्तियों की तरह पैर से ठुकराना चाहते हैं, उनसे मेरी पीड़ितात्मा का यथेष्ट मतभेद होने के कारण इस सम्बन्ध में अपनी यथार्थ सम्मति प्रकट कर देना मैंने उचित समझा है। यदि मेरी यह कार्रवाई अनुचित हो तो इसके लिए क्षमा माँगने को तैयार हूँ।

मैं आशा करता हूँ कि मेरे लेख को अन्त तक भली भाँति पढ़ जाने के बाद कोई मुझ पर हरिजनवाद तथा साम्यवाद के विरोध अभियोग नहीं लगायेगा। मैं लेख में पहले ही अपना यह मत प्रकट कर चुका हूँ कि सामाजिक शासन के क्षेत्र में साम्यवाद के सिद्धान्त से बढ़कर दूसरा कोई सिद्धान्त नहीं है; पर साहित्य तथा कला के साम्राज्य में व्यक्तिगत चेतनावाद की ही प्रधानता वांछनीय है जिससे रसात्मक व्यक्ति अपनी उन्नत, सुसंकृति और पवित्र वेदनाओं की सूक्ष्म अनुभूति को अत्यन्त परिमार्जित रूप से व्यक्त करने में समर्थ हो सके।

१९३३

प्रगति या दुर्गति ?

हिन्दी-साहित्य में 'प्रगतिशीलता' का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा है। इस 'प्रगतिशीलता' की प्रेरणा हमारे साहित्य के नवयुवक नेताओं को कम्यूनिस्ट रूस के प्रारम्भिक युग के साहित्यिक आन्दोलन से मिली है। हमारे प्रगतिपंथियों का कहना है कि राजनीतिक क्षेत्र में जिस प्रकार 'डिक्टेटरशिप आफ दि प्रोलेटेरियट' (मजदूर श्रेणी की जनता का एकाधिपत्य) का सिद्धान्त प्रधानतः मान्य होना चाहिए, उसी प्रकार साहित्य क्षेत्र में भी शोषितवर्ग सम्बन्धी विषय ही कला के मूल उपकरण के रूप में ग्रहण किये जाने चाहिए। केवल इतना ही नहीं, इन 'प्रगतिपंथियों' ने साहित्य तथा कला की उन सब सुन्दर,

मनोहर, सुरुचि-सम्पन्न तथा सम्मार्जित कृतियों को झाड़ झंखाड़ तथा कूड़ा-कचरा करार दे दिया है, जिनका सृजन वाल्मीकि-होमर, कालिदास शेक्सपीयर, तुलसी-सूर, दान्ते, मिल्टन, चंडीदास-विद्यापति, शेली कीट्स, गेटे-रवीन्द्रनाथ, डास्टएव्सकी-शरचन्द्र, आदि प्राचीन तथा अर्वाचीन युगों के सभी श्रेष्ठ कलाविदों द्वारा हुआ है। विश्वप्राण के अतल में प्रवेश करके उसकी नव-नव हिल्लोलमयी धाराओं के सृजनोन्मेष को नव-नव वेदनाओं के रसों से स्फूर्जित करनेवाले इन महान कलाकारों की कृतियों को ये प्रगतिपंथी अपने एक फूत्कार (बल्कि थूत्कार) से शून्य में विलीन कर देना चाहते हैं। मानव हृदय की कोमल तथा सुकुमार वेदनाओं, सुन्दर तथा सुरुचिपूर्ण मनोवृत्तियों की कोई सार्थकता हमारे ये तथाकथिक साहित्यिक स्वीकार करना नहीं चाहते। स्त्री-पुरुष की मूल प्रकृति में पारस्परिक प्रेम की जो चिदानन्दमयी अनुभूति प्रतिपल नव-नव वैचित्र्यमय रस का सृजन करती रहती है, उसे वे लोग आत्म-वंचनामूलक सारहीन भावुकता बतलाते हैं।

असल बात यह है कि रूस में संघबद्ध साम्यवाद (कम्यूनिज्म) का शासन-चक्र चलने के प्रारम्भिक युग में लेनिन-प्रमुख नेताओं को कार्ल मार्क्स-प्रमुख साम्यवादी पितामहों के व्यावहारिक तथा 'व्यवसायात्मक' तत्वयुक्त सिद्धान्तों को मानकर चलने के लिए बाध्य होना पड़ा था—क्योंकि इन सिद्धान्तों के व्यवहारिक प्रयोग के बिना वे 'प्रोलेटेरियन' जनता का राजनीतिक एकाधिपत्य कायम करने में सफल नहीं हो सकते थे। पर जब धीरे-धीरे साधारण जनता के एकाधिपत्य का राजनीतिक चक्र स्थिरता और दृढ़ता प्राप्त करने लगा, तो रूस में साहित्य तथा समाज-सम्बन्धी विचारों में भी पुनरावर्तन और विवर्तन होने लगा, और आज यह हाल है कि विश्व-साहित्य की जिन अमर कृतियों को हमारे तोतापन्थी, अदूरदर्शी प्रगतिशीलतावादी नवयुवक 'कूड़ावादी' कहकर ठुकराना चाहते हैं, उन्हें सोवियट रूस के नवयुवक बड़े चाव से अपनाने लगे हैं।

चरितार्थता पर वर्षों से जोर देते आये हैं। अपनी 'टेआत्र दु पप्ल' (Theatre du peuple) अथवा 'जन-साधारण का 'रङ्गमंच' शीर्षक पुस्तक में उन्होंने इस विषय पर विशद् रूप में वाद-विवाद किया है। इस पुस्तक का उल्लेख मैं पहले भी दो एक लेखों में कर चुका हूँ। साधारण श्रेणी की जनता की आन्तरिक रुचि और मानसिक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शेक्सपीयर के नाटक जन-साधारण की रुचि के लिए सब से उपयुक्त हैं! रोमाँ-रोलाँ का कहना है कि उन्होंने थियेटरों में जाकर सबसे से निम्न-श्रेणी की सीट में बैठकर बड़े गौर से इस बात का निरीक्षण किया है कि जब रङ्ग मंच पर शेक्सपीयर का कोई नाटक खेला जाता है, तो उस समय 'शोषितवर्गीय' दर्शकों के प्रत्येक हाव भाव के उत्थान का क्या स्वरूप रहता है। उनकी बात से मालूम होता है कि प्रारम्भ से अन्त तक वे लोग बड़ी उत्सुकता से रंग मंच की प्रत्येक कारवाई को देखते रहते हैं। प्रेम की उन्मद उल्लास-भरी लीला का ऐक्टिंग जिस समय होता है, उस समय उनका मुखमण्डल विह्वल भावुकता से उद्भासित हो उठता है, जब प्रतिहिंसा का विक्षोभ अभिनेताओं के वाक्यों तथा भावों में आलोड़ित हो उठता है, तो उस समय 'प्रोलेटेरियन' दर्शकों की आँखों से स्तम्भित व्याकुलता प्रकट होती है, अन्याय तथा अत्याचार का दृश्य देखकर उन लोगों का खून खौलने लगता है, और वे बेचैनी से दांतों को पीसने लगते हैं।

रोमां रोलां का जो अनुभव हुआ है, उसे केवल फ्रांस की 'प्रोलेटेरियन' जनता तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए। यदि हम भारत के जन-साधारण की मनोवृत्ति का अध्ययन करें, तो हमें उनके सम्बन्ध में भी वैसा ही अनुभव होगा। आजकल भारतीय फिल्म कम्पनियाँ जहाँ सैकड़ों ऐसे चित्र निकाल रही हैं, जिनका कला की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, वहाँ दो चार फिल्म ऐसे भी निकल पड़ते हैं, जिनमें कला की रसमयी गम्भीरता का अच्छा समावेश रहता है।

अमर मंगलमयी कला की चिर स्निग्ध शान्तिमय सुन्दर सौम्यता द्वारा परास्त होता रहा है। शाश्वत नियम ही यही है।

समझ में नहीं आता कि सुन्दर साहित्य के घर्षण में लगे हुए इन प्रगतिपन्थी साम्यवादियों का यथार्थ उद्देश्य क्या है! वे वास्तव में किस तरह का साहित्य चाहते हैं? इस सम्बन्ध में तो दो मत हो ही नहीं सकते कि श्रमजीवियों तथा अन्यान्य शोषितवर्गियों को कला के मन्दिरों में प्रवेश करने का उतना ही अधिकार है, जितना कि 'शोषक-वर्ग' के अंतर्भुक्त व्यक्तियों को। उच्चकोटि की कला पर न तो 'शोषकों' का ही एकाधिपत्य हो सकता है, न 'शोषितों' का। यदि किसी कृति में कला में मूल प्राणों का स्पन्दन वर्तमान हो, तो वह सब के लिए समान रूप से उपभोग्य है, चाहे उसका रूप कैसा ही हो। गोर्की की जिन कृतियों में 'प्रोलेटेरियन' जनता का मर्मभेदी हाहाकार तथा दीर्ण क्रंदन का आर्तनाद व्यक्त हुआ है, उनकी कलामयी कल्पना की महत्ता को प्रत्येक सच्चे रसज्ञ ने स्वीकार किया है, और इन रसज्ञों में से अधिक संख्यक ऐसे हैं, जो 'शोषक' सम्प्रदाय के अंतर्भुक्त किए जा सकते हैं। उसी प्रकार शेक्सपीयर के जिन नाटकों में केवल राज-कीय तथा अभिजातवंशीय स्त्री-पुरुषों के मानसिक संघर्ष-विघर्ष का प्रचंड संघूर्णन तथा विक्षुब्ध विस्फूर्जन विप्लव वेग के साथ आलोड़ित हुआ है, उनकी उद्दाम भावोन्मादमयी वेदनाओं से 'शोषित' श्रेणी की जनता परिपूर्ण सहानुभूति रखती है, यह बात भली-भांति प्रमाणित हो चुकी है। हमारे प्रगतिशीलतावादी शायद इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहेंगे, पर विश्व-विख्यात मनीषी तथा मार्मिक कला-रसज्ञ महात्मा रोमां रोलां की बात इस सम्बन्ध में उन्हें माननी पड़ेगी, क्योंकि रोमाँ रोलाँ स्वयं कट्टर साम्यवादी हैं—'सोशलिष्ट' श्रेणी के साम्यवादी नहीं, वह एक नम्बर के कम्यूनिस्ट हैं। उनके तत्वावधान में कम्यूनिज्म संबन्धी बहुत से पत्र फ्रेंच भाषा में प्रकाशित होते रहे हैं। वह जन-साधारण की कलात्मक आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं की

चरितार्थता पर वर्षों से जोर देते आये हैं। अपनी 'टेआत्र दु पप्ल' (Theatre du peuple) अथवा 'जन-साधारण का 'रङ्गमंच' शीर्षक पुस्तक में उन्होंने इस विषय पर विशद् रूप में वाद-विवाद किया है। इस पुस्तक का उल्लेख मैं पहले भी दो एक लेखों में कर चुका हूँ। साधारण श्रेणी की जनता की आन्तरिक रुचि और मानसिक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शेक्सपीयर के नाटक जन-साधारण की रुचि के लिए सब से उपयुक्त हैं ! रोमाँ-रोलाँ का कहना है कि उन्होंने थियेटरों में जाकर सबसे से निम्न-श्रेणी की सीट में बैटकर बड़े गौर से इस बात का निरीक्षण किया है कि जब रङ्ग मंच पर शेक्सपीयर का कोई नाटक खेला जाता है, तो उस समय 'शोषितवर्गीय' दर्शकों के प्रत्येक हाव भाव के उत्थान का क्या स्वरूप रहता है। उनकी बात से मालूम होता है कि प्रारम्भ से अन्त तक वे लोग बड़ी उत्सुकता से रंग मंच की प्रत्येक कारवाई को देखते रहते हैं। प्रेम की उन्मद उल्लास-भरी लीला का ऐक्टिंग जिस समय होता है, उस समय उनका मुखमण्डल विह्वल भावुकता से उद्भासित हो उठता है, जब प्रतिहिंसा का विक्षोभ अभिनेताओं के वाक्यों तथा भावों में आलोड़ित हो उठता है, तो उस समय 'प्रोलेटेरियन' दर्शकों की आँखों से स्तम्भित व्याकुलता प्रकट होती है, अन्याय तथा अत्याचार का दृश्य देखकर उन लोगों का खून खौलने लगता है, और वे बेचैनी से दांतों को पीसने लगते हैं।

रोमां रोलां का जो अनुभव हुआ है, उसे केवल फ्रांस की 'प्रोलेटेरियन' जनता तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए। यदि हम भारत के जन-साधारण की मनोवृत्ति का अध्ययन करें, तो हमें उनके सम्बन्ध में भी वैसा ही अनुभव होगा। आजकल भारतीय फिल्म कम्पनियाँ जहाँ सैकड़ों ऐसे चित्र निकाल रही हैं, जिनका कला की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, वहाँ दो चार फिल्म ऐसे भी निकल पड़ते हैं, जिनमें कला की रसमयी गम्भीरता का अच्छा समावेश रहता है।

अमर मंगलमयी कला की चिर स्निग्ध शान्तिमय सुन्दर सौम्यता द्वारा परास्त होता रहा है। शाश्वत नियम ही यही है।

समझ में नहीं आता कि सुन्दर साहित्य के घर्षण में लगे हुए इन प्रगतिपन्थी साम्यवादियों का यथार्थ उद्देश्य क्या है! वे वास्तव में किस तरह का साहित्य चाहते हैं? इस सम्बन्ध में तो दो मत हो ही नहीं सकते कि श्रमजीवियों तथा अन्यान्य शोषितवर्गियों को कला के मन्दिरों में प्रवेश करने का उतना ही अधिकार है, जितना कि 'शोषक-वर्ग' के अंतर्भुक्त व्यक्तियों को। उच्कोटि की कला पर न तो 'शोषकों' का ही एकाधिपत्य हो सकता है, न 'शोषितों' का। यदि किसी कृति में कला में मूल प्राणों का स्पन्दन वर्तमान हो, तो वह सब के लिए समान रूप से उपभोग्य है, चाहे उसका रूप कैसा ही हो। गोर्की की जिन कृतियों में 'प्रोलेटेरियन' जनता का मर्मभेदी हाहाकार तथा दीर्ण क्रंदन का आर्तनाद व्यक्त हुआ है, उनकी कलामयी कल्पना की महत्ता को प्रत्येक सच्चे रसज्ञ ने स्वीकार किया है, और इन रसज्ञों में से अधिक संख्यक ऐसे हैं, जो 'शोषक' सम्प्रदाय के अंतर्भुक्त किए जा सकते हैं। उसी प्रकार शेक्सपीयर के जिन नाटकों में केवल राज-कीय तथा अभिजातवंशीय स्त्री-पुरुषों के मानसिक संघर्ष-विघर्ष का प्रचंड संघूर्णन तथा विक्षुब्ध विस्फूर्जन विप्लव वेग के साथ आलोड़ित हुआ है, उनकी उद्दाम भावोन्मादमयी वेदनाओं से 'शोषित' श्रेणी की जनता परिपूर्ण सहानुभूति रखती है, यह बात भली-भांति प्रमाणित हो चुकी है। हमारे प्रगतिशीलतावादी शायद इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहेंगे, पर विश्व-विख्यात मनीषी तथा मार्मिक कला-रसज्ञ महात्मा रोमां रोलां की बात इस सम्बन्ध में उन्हें माननी पड़ेगी, क्योंकि रोमाँ रोलाँ स्वयं कट्टर साम्यवादी हैं—'सोशलिस्ट' श्रेणी के साम्यवादी नहीं, वह एक नम्बर के कम्यूनिस्ट हैं। उनके तत्वावधान में कम्यूनिज्म संबन्धी बहुत से पत्र फ्रेंच भाषा में प्रकाशित होते रहे हैं। वह जन-साधारण की कलात्मक आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं की

चरितार्थता पर वर्षों से जोर देते आये हैं। अपनी 'टेआत्र दु पप्ल' (Theatre du peuple) अथवा 'जन-साधारण का 'रङ्गमंच' शीर्षक पुस्तक में उन्होंने इस विषय पर विशद् रूप में वाद-विवाद किया है। इस पुस्तक का उल्लेख मैं पहले भी दो एक लेखों में कर चुका हूँ। साधारण श्रेणी की जनता की आन्तरिक रुचि और मानसिक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शेक्सपीयर के नाटक जन-साधारण की रुचि के लिए सब से उपयुक्त हैं। रोमाँ-रोलाँ का कहना है कि उन्होंने थियेटरों में जाकर सबसे से निम्न-श्रेणी की सीट में बैठकर बड़े गौर से इस बात का निरीक्षण किया है कि जब रङ्ग मंच पर शेक्सपीयर का कोई नाटक खेला जाता है, तो उस समय 'शोषितवर्गीय' दर्शकों के प्रत्येक हाव भाव के उत्थान का क्या स्वरूप रहता है। उनकी बात से मालूम होता है कि प्रारम्भ से अन्त तक वे लोग बड़ी उत्सुकता से रंग मंच की प्रत्येक कारवाई को देखते रहते हैं। प्रेम की उन्मद उल्लास-भरी लीला का ऐक्टिंग जिस समय होता है, उस समय उनका मुखमण्डल विह्वल भावुकता से उद्भासित हो उठता है, जब प्रतिहिंसा का विक्षोभ अभिनेताओं के वाक्यों तथा भावों में आलोड़ित हो उठता है, तो उस समय 'प्रोलेटेरियन' दर्शकों की आँखों से स्तम्भित व्याकुलता प्रकट होती है, अन्याय तथा अत्याचार का दृश्य देखकर उन लोगों का खून खौलने लगता है, और वे बेचैनी से दांतों को पीसने लगते हैं।

रोमां रोलां का जो अनुभव हुआ है, उसे केवल फ्रांस की 'प्रोलेटेरियन' जनता तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए। यदि हम भारत के जन-साधारण की मनोवृत्ति का अध्ययन करें, तो हमें उनके सम्बन्ध में भी वैसा ही अनुभव होगा। आजकल भारतीय फिल्म कम्पनियाँ जहाँ सैकड़ों ऐसे चित्र निकाल रही हैं, जिनका कला की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, वहाँ दो चार फिल्म ऐसे भी निकल पड़ते हैं, जिनमें कला की रसमयी गम्भीरता का अच्छा समावेश रहता है।

ऐसे फिल्मों को देखने 'शोषित वर्ग' के जो दर्शक जाते हैं, उनके मन में उस समय प्रत्येक दृश्य से जो विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियायें होती रहती हैं, और उन प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप समय-समय पर जो भावोद्गार उनके मुँह से निकलते रहते हैं, यदि ध्यान पूर्वक उन पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि उनमें गम्भीर भावुकता को समझने की अन्तः प्रवृत्ति कितनी प्रबल है ।

चूँकि रोमां रोलां की पूर्वोल्लिखित पुस्तक बहुत पहिले—बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व—निकल चुकी थी, इसलिए उसे पढ़कर वर्तमान लेखक के मन में यह शंका बनी हुई थी कि कम्यूनिज्म की भाव धारा से प्राणोदिक नवीन रूस के तरुण सम्प्रदाय को 'क्लासिकल' साहित्य की रसधारा तरंगित करने में समर्थ होगी या नहीं । साम्यवादी शासन चक्र के प्रारम्भिक युग में सोवियट रूस में जिस प्रकार का साहित्य पनपने लगा था, उसे देखकर यह शंका और भी दृढ़ होने लगी थी । पर इधर रूस में साहित्य तथा कला संबंधी रुचि ने फिर से पल्टा खाया है, उसे देखते हुए इन पंक्तियों के लेखक के मन में यह विश्वास भली-भाँति जम गया है कि कला की मूलसत्ता में जो शाश्वत सत्य निहिति है, उसे दबाने की लाख चेष्टाएँ करने पर भी वह फिर-फिर व्यक्त होकर अपने को प्रतिष्ठित करता रहता है ।

रोमां रोलां ने कई वर्ष पहले जिस बात पर गौर किया था, उसकी यथार्थता फिर नये सिरे से प्रमाणित हो रही है । हाल में ह्यूबर्ट ग्रिफिथ नामक एक प्रत्यक्षदर्शी लेखक ने अपनी नव-प्रकाशित पुस्तक में लिखा है कि मास्को में सात दिन के भीतर शेक्सपीयर के चार नाटक खेले गये और जनता ने उन नाटकों का अभिनय देखकर इतना अधिक रस प्राप्त किया कि उस आनन्दोल्लास का वर्णन नहीं हो सकता । केवल शेक्सपीयर के नाटक ही नहीं, गेटे, शिलर, शेरीडन, डिकन्स, बालजाक, दुमा आदि तथाकथित 'शोषकवर्गीय' कलाकारों की कृतियों का अभिनय वहाँ नियमित रूप से होने लगा है और लोग बड़े चाव

से उनका रसास्वादन करने लगे हैं। यह बात केवल ग्रिफिथ ने ही नहीं कही है, स्वयं कम्यूनिस्ट लेखकों ने कम्यूनिष्ट पत्रों में इसे स्वीकार किया है।

हमारे 'प्रगतिपंथी' लेखक स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम की सुन्दर स्निग्ध तथा मंगलमय अनुभूति की स्वर्गीय कल्पना को 'शोषकवर्गीय' अथवा 'पूँजीवादी' कवियों की आत्मवंचनामूल भावुकता समझते हैं, इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है। मार्क्सवादियों के कोरे सिद्धान्तों को तोते की तरह रटनेवाले इन अनुभूतिहीन प्रचारकों को यह सुनकर अपनी आँखें खोलनी चाहिए कि सोवियट रूस का तरुण वर्ग अब प्रेम की महत्ता को नतमस्तक होकर मानने लगा है, और प्रेम-विषयक कलामयी कृतियों का जैसा आदर इस समय रूस में हो रहा है, वैसा शायद ही कहीं पाया जाता हो। इसका कारण यही है। प्रेम का भाव अनंत रसमय होने के अतिरिक्त शाश्वत सत्य से ओत-प्रोत है और विशेष राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भले ही यह चिरकालीन सत्य प्रचारात्मक विचार-धारा के प्रचलन से कुछ समय के लिए दबा दिया जाय, पर सदा के लिए उसका गला नहीं घोंटा जा सकता। रूस में इस समय वही दशा है, जो बहुत दिनों की प्यास की तड़पन से शुष्क कण्ठ तथा विकल-हृदय व्यक्ति की हुआ करती है, जब कहीं जल का आभास उसके दृष्टिगोचर होता। प्रेम-रस को किसी भी रूप में पान करने के लिए वहाँ का जन-समुदाय अधीर हो उठा है। एक फ्रांसीसी लेखक का कहना है कि रोमियो-जूलियट सदृश प्रेमोन्मादमयी रचनाओं के पीछे रूस वाले इस तरह पागल हो उठे हैं कि उनकी भावुकता के प्रभाव में उन्मत्त वेग से बहे जा रहे हैं।

प्रेम का स्रोत जहाँ एक बार उन्मुक्त हुआ, तो फिर वह शत शत धाराओं में, असंख्य शाखा-प्रशाखाओं में फूटने लगता है, और उसकी मूल गति अनन्त और उद्दाम वेग से बहने लगती है। रूस में भी यही चिह्न फिर से दिखाई देने लगे हैं। वहाँ के प्रेमरसपिपासु युवक

युवती-गण का सुझाव 'रोमान्टिसिज्म' (भावतरंगवाद) की ओर होने लगा है, और वे अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के रोमांस वादी लेखकों की रचनाओं को अत्यन्त उत्सुकता पूर्वक अपनाने लगे हैं। हमारा तात्पर्य यह नहीं कि सोवियट रूस की समस्त जनता अव्यक्त के सन्धान में अनन्त की ओर उन्मत्त उत्साह से दौड़ी चली जा रही है। हमारा आशय केवल यही है कि मार्कियन सिद्धान्तों ने वहाँ के कलात्मक रस-प्रवाह को कुछ समय के लिए बालू की जिस भीति से बाँधने की चेष्टा की थी, वह अब ढहने लगी है और फिर से वहाँ रस का संचार होने लगा है!

इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि श्रमजीवी श्रेणी की जनता में भाव तथा रसावेगमयी प्रवृत्तियाँ पूर्णतः अन्तर्निहित होती हैं, भले ही कृत्रिम दबाव से कुछ काल के लिए वे अव्यक्त तथा अपरिस्फुट रहें। आवश्यकता इस बात की है कि उनकी रसज्ञता की प्रवृत्ति को कला के सब रूपों, सब रसों तथा सब रङ्गों द्वारा परितृत किया जाय और उनकी रुचि को अधिक उन्नत तथा परिमार्जित बनाया जाय। प्रत्येक व्यक्ति की अन्तश्चेतना अपने अन्तस्तल के निभृत लोक में चित्र विचित्र स्वप्नों का रंगीन जाल बुनना चाहती है। बिना इसके वह अपने प्रत्यक्ष जगत के अवास्तविक अस्तित्व की संकीर्णता तथा क्षुद्रता के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता। मानवात्मा की इस परम सत्य तथा अन्तरतम आकांक्षा की चरितार्थता का मार्ग अवरुद्ध करके साहित्य में 'प्रगतिशीलता' के उन्नायकगण किस महान् उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते हैं?

व्यवहारिक जगत् में साम्यवाद के सिद्धान्तों की महत्ता को कोई भी समझदार व्यक्ति अस्वीकृत नहीं कर सकता; पर किसी भी समष्टि के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी तथा विशेष सत्ता रखता है। समष्टियों में रहकर सम्बद्ध जीवन व्यतीत करने वाले पशुओं से मनुष्यों की विशेषता यहीं पर है। व्यक्ति के इस अपनेपन की अवज्ञा करके जो

लोग कला के क्षेत्र में भी समष्टिवाद लाना चाहते हैं, वे मानव-जाति की चेतना पर भेड़ों की चेतना से अधिक श्रद्धा नहीं रखते, यह निश्चित है; सामाजिक राजनीति के क्षेत्र में अभिजात्य निन्दनीय तथा परिहार्य है; पर मनुष्य के अन्तर्लोक की कला-सम्बन्धी सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र में आभिजात्य का भाव ही चरम आदर्श है। इसीलिए बीसवीं शताब्दी के प्रोलेटेरियन साहित्य प्रधान नेता मैक्सिम गोर्की साहित्य तथा कला के क्षेत्र में 'प्रोलेटेरियन' शब्द के प्रयोग से चिढ़ता था। उसने 'ला रेव्यू नूवेल' नामक फ्रेंच पत्र में एक बार अपने एक लेख में कहा था—"अपने साहित्य के सम्बन्ध में 'प्रोलेटेरियन' शब्द व्यवहृत करना मैं अनुचित समझता हूँ। मैं कभी अपने कर्मकारों तथा कृषकों के साहित्य के लिए यह शब्द काम में नहीं लाता।" श्रमजीवियों की आत्मा के निर्मम निर्पीड़न के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित करते रहने पर भी उसकी कला का मूल प्राण आभिजात्य के भाव से ओत-प्रोत रहा है और उसका प्रत्येक नायक अपनी व्यक्तिगत सत्ता की महत्ता से महीयान है। सहस्रों निर्यातनों के संघर्ष में रहने पर भी उसके उपन्यासों तथा कहानियों का प्रत्येक चरित्र अपनी अंतरात्मा में आभिजात्य के समुन्नत अभिमान का भाव पोषित किये रहता है। कलाकार भी विशेषतया तुच्छतम व्यक्ति के भीतर निहित अपनेपन को इसी गौरवमयी अनुभूति को सुन्दर रूप से अभिव्यञ्जित करने में है। यदि हमारे अपरिणत-मस्तिष्क उत्साही नवयुवक साहित्य के इस चरम तथ्य की उपेक्षा करके कला को केवल शोषित वर्ग की समष्टिगत व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनाने में प्रयोजित करना चाहेंगे, तो उसे प्रगति न कहकर हम घोर दुर्गति ही समझेंगे।

१९३८



युवती-गण का सुझाव 'रोमान्टिसिज्म' (भावतरंगवाद) की ओर होने लगा है, और वे अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के रोमांस वादी लेखकों की रचनाओं को अत्यन्त उत्सुकता पूर्वक अपनाने लगे हैं। हमारा तात्पर्य यह नहीं कि सोवियट रूस की समस्त जनता अव्यक्त के सन्धान में अनन्त की ओर उन्मत्त उत्साह से दौड़ी चली जा रही है। हमारा आशय केवल यही है कि मार्कियन सिद्धान्तों ने वहाँ के कलात्मक रस-प्रवाह को कुछ समय के लिए बालू की जिस भीति से बाँधने की चेष्टा की थी, वह अब ढहने लगी है और फिर से वहाँ रस का संचार होने लगा है !

इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि श्रमजीवी श्रेणी की जनता में भाव तथा रसावेगमयी प्रवृत्तियाँ पूर्णतः अन्तर्निहित होती हैं, भले ही कृत्रिम दबाव से कुछ काल के लिए वे अव्यक्त तथा अपरिस्फुट रहें। आवश्यकता इस बात की है कि उनकी रसज्ञता की प्रवृत्ति को कला के सब रूपों, सब रसों तथा सब रङ्गों द्वारा परितृप्त किया जाय और उनकी रुचि को अधिक उन्नत तथा परिमार्जित बनाया जाय। प्रत्येक व्यक्ति की अन्तश्चेतना अपने अन्तस्तल के निभृत लोक में चित्र विचित्र स्वप्नों का रंगीन जाल बुनना चाहती है। बिना इसके वह अपने प्रत्यक्ष जगत के अवास्तविक अस्तित्व की संकीर्णता तथा क्षुद्रता के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता। मानवात्मा की इस परम सत्य तथा अन्तरतम आकांक्षा की चरितार्थता का मार्ग अवरुद्ध करके साहित्य में 'प्रगतिशीलता' के उन्नायकगण किस महान् उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते हैं ?

व्यवहारिक जगत् में साम्यवाद के सिद्धान्तों की महत्ता को कोई भी समझदार व्यक्ति अस्वीकृत नहीं कर सकता; पर किसी भी समष्टि के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी तथा विशेष सत्ता रखता है। समष्टियों में रहकर सम्बद्ध जीवन व्यतीत करने वाले पशुओं से मनुष्यों की विशेषता यहीं पर है। व्यक्ति के इस अपनेपन की अवज्ञा करके जो

लोग कला के क्षेत्र में भी समष्टिवाद लाना चाहते हैं, वे मानव-जाति की चेतना पर भेड़ों की चेतना से अधिक श्रद्धा नहीं रखते, यह निश्चित है; सामाजिक राजनीति के क्षेत्र में अभिजात्य निन्दनीय तथा परिहार्य है; पर मनुष्य के अन्तर्लोक को कला-सम्बन्धी सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र में आभिजात्य का भाव ही चरम आदर्श है। इसीलिए बीसवीं शताब्दी के प्रोलेटेरियन साहित्य प्रधान नेता मैक्सिम गोर्की साहित्य तथा कला के क्षेत्र में 'प्रोलेटेरियन' शब्द के प्रयोग से चिढ़ता था। उसने 'ला रेव्यू नूवेल' नामक फ्रेंच पत्र में एक बार अपने एक लेख में कहा था—"अपने साहित्य के सम्बन्ध में 'प्रोलेटेरियन' शब्द व्यवहृत करना मैं अनुचित समझता हूँ। मैं कभी अपने कर्मकारों तथा कृषकों के साहित्य के लिए यह शब्द काम में नहीं लाता।" श्रमजीवियों की आत्मा के निर्मम निर्पीड़न के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित करते रहने पर भी उसकी कला का मूल प्राण आभिजात्य के भाव से ओत-प्रोत रहा है और उसका प्रत्येक नायक अपनी व्यक्तिगत सत्ता की महत्ता से महीयान है। सहस्रों निर्यातनों के संघर्ष में रहने पर भी उसके उपन्यासों तथा कहानियों का प्रत्येक चरित्र अपनी अंतरात्मा में आभिजात्य के समुन्नत अभिमान का भाव पोषित किये रहता है। कलाकार भी विशेषतया तुच्छतम व्यक्ति के भीतर निहित अपनेपन को इसी गौरवमयी अनुभूति को सुन्दर रूप से अभिव्यञ्जित करने में है। यदि हमारे अपरिणत-मस्तिष्क उत्साही नवयुवक साहित्य के इस चरम तथ्य की उपेक्षा करके कला को केवल शोषित वर्ग की समष्टिगत व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनाने में प्रयोजित करना चाहेंगे, तो उसे प्रगति न कहकर हम घोर दुर्गति ही समझेंगे।

१६३८



करने का उन्हें पूरा अधिकार है। मूल प्रकृति की सकरुण कोमलता का अमृतमय रस भिन्न-भिन्न स्वरूपों में अपने को व्यक्त करता है, पर उस रस की कमनीयता सर्वत्र समान है। माता-पुत्र तथा भाई-बहन के बीच सुललित स्नेह का जो भाव वर्त्तमान रहता है उसके भीतर की कमनीयता तथा प्रेमिक-प्रेमिका के मधुर प्रणय के लालित्य में विशेष अन्तर नहीं पाया जा सकता। जिस कवि की हृदयानुभूति अत्यन्त तीव्र तथा जीवित होती है वह प्रत्येक रूप में इस कमनीयता का रसास्वादन कर लेता है। वह अलकापुरी की प्रियतम ध्यान-मग्न, विरह-व्यथिता मदन-ताप जर्जरिता कामिनि के उष्णोच्छ्वास में जिस मधुर अतीन्द्रिय तथा आध्यात्मिक रस का अस्वादन करता है, प्रीति स्निग्ध दृष्टि के नवीन मेघ की ओर ताकने वाली भ्रूविलासानभिज्ञ जन-पदवधू की कल्पना भी उसके हृदय में उसी प्रकार का मधुमयरस सिंचित करती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में सखियों के बीच का पारस्परिक स्नेह, समग्र तपोवनवासियों का शकुन्तला के प्रति अपूर्व वात्सल्य-भाव, तरुलता, पशुपक्षी के प्रति शकुन्तला अत्यन्त स्वाभाविक सौहार्द्य का चित्र प्रस्फुटिक करके तथा इन सब भावों के साथ ही साथ दुष्यन्त के प्रति उसके कामजन्य अपूर्व प्रणय की छवि अङ्कित करके कालिदास अन्त की प्रकृति के आनन्दमय रूप के इन भिन्न-भिन्न स्वरूपों की परिणति एक रूप में दिखलायी है। जो कवि शृँगार रस को वाह्येन्द्रिय की तृप्ति की सामग्री समझ कर उसका वर्णन करने बैठता है वह भ्रूविलासान भिज्ञ वधू की प्रीति-स्निग्ध दृष्टि में विशेष आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। वह प्रमत्त प्रणय का वर्णन करते-करते उसकी मत्तता में बह जाता है, पर उस प्रणय के भाव को अपने वश में करके उसका माधुर्य निःसरित करना नहीं जानता।

'मेघदूत' की व्याख्या करते हुए हमारे अधिकांश साहित्यालोचक लिखा करते हैं कि इसमें प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अच्छी तरह से किया गया है और इस काव्य की विशेषता इसी में है। वे लोग इस

बात का ख्याल नहीं करते कि यदि केवल प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में ही इस प्रकार काव्य की विशेषता होती तो वह संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों तथा गुणिजनों के इतने अधिक आदर की सामग्री कदापि न होता। क्योंकि ऐसे हजारों नगण्य काव्य संसार-साहित्य में भरे पड़े हैं, जिसमें प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बड़े कौशल के साथ किया गया है। अलङ्कार-शास्त्र में जिस प्रकार शृँगार, करुण, हास्य आदि रसों का वर्णन पाया जाता है उसी प्रकार संसार के श्रेष्ठ गीति-कवियों की रचनाओं में एक ऐसे रस का परिचय पाया जाता है जिसका प्राकृतिक दृश्यों के साथ बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है। पर प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन उस रस का मुख्य उद्देश्य नहीं है। उस रस की गति प्रकृति के बाह्यावरण को भेद कर उसके बहुत भीतर प्रवेश करती है। इस रस को हम नैसर्गिक रस कह सकते हैं। मेघदूत के पूर्व भाग में इस रस की प्रधानता पाई जाती है। अलङ्कार शास्त्र के कृत्रिम नियमों की दुहाई देने वाले इस स्वतःस्फूर्त रस का अनुभव किस प्रकार कर सकते हैं!

बहुधा लोगों को कहते हुए सुना जाता है कि कवि लोगों की कल्पना एक सम्पूर्ण अवास्तविक लोक से प्रसूत होकर आती है। अब देखना चाहिए कि यह धारणा कहाँ तक ठीक है। इस प्रश्न की मीमांसा करने के पहिले इस बात पर विचार करना होगा कि वास्तविकता है क्या चीज़। हमारी जिस माता ने हमें अत्यन्त यत्न के साथ अपने स्नेह-रस द्वारा लालित किया है उसकी वास्तविकता का विचार यदि हम उसके बाह्य रूप और बाह्याचरण द्वारा करने लगें और उसकी स्नेहवृत्ति को प्राणि-विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार केवल सन्तान-पालन के लिए उपयुक्त वृत्ति की दृष्टि से ही देखें तो हमारे हृदय में उसके प्रति कृतज्ञता का भाव अवश्य उत्पन्न हो सकता है, पर हम उसके प्रति भक्ति के उस अनन्त सौंदर्यमय भाव का अनुभव कदापि नहीं कर सकते जो हमारी आत्मा के अन्तरतम प्रदेश से उद्भूत होता है। इस अनुपम भाव का अनुभव

करने के लिए माता के वाह्य स्वरूप को उसका वास्तविक स्वरूप न समझकर उसके वाह्य जीवन के समस्त कार्यों की आड़ में जो एक आध्यात्मिक जीवन का अन्तःसलिल स्रोत निरन्तर बहता जाता है उसी को उसका वास्तविक जीवन मानना पड़ता है, कारण कि उसी के द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप की छाया हमारे हृदय-पटल पर प्रगाढ़ रूप से अंकित हो जाती है। माता के इस आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान बुद्धि द्वारा बोधगम्य हो सकता है, पर वह इन्द्रियों से परे है। साथ ही उसके मातृत्व के निष्कलुष, पवित्र भाव का अनुभव करके जिस अनन्त लोक से हमारे हृदय में भक्ति का भाव उत्सारित होता है, वह अतीन्द्रिय होने पर भी अवास्तविक नहीं है। यही बात विश्व-प्रकृति के सभी रूप तथा सभी रसों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जो कवि प्राकृतिक दृश्यों के वाह्य-स्वरूप को ही सब कुछ समझ कर उसी का गुण गाने लगता है वह दया का पात्र है। श्रेष्ठ कवि सर्वदा प्रकृति के अभ्यन्तर में स्थित वास्तविकता का ही आदर करता है और उसी का गीत गाता है। जब किसी कल-नादिनी नदी के निर्जन तट के ऊपर से हम हंस-श्रेणी को उड़ते हुए देखते हैं तो एक अपूर्व सौंदर्य की तरङ्ग हमारी आँखों के सामने खेलने लगती है। इस नगण्य दृश्य के द्वारा हम एक अनन्त लोक के सौंदर्य का अनुभव करने लगते हैं और हमें सच्चिदानन्द के आनन्दमय रूप का परिचय स्वतः मिलने लगता है। इस दृश्य के जिस रूप का अनुभव हम इन्द्रियों द्वारा करते हैं उसके द्वारा हम कदापि अनन्तलोक का परिचय नहीं पा सकते। हंसों के परों की कोमलता, उनके रङ्ग की सफेदी नदी-जल की स्वच्छता आदि गुण वाह्य-सौंदर्य के लक्षण हैं। पर जो भाव इन्द्रियों से अतीत है, जिसके द्वारा विश्व-प्रकृति के छिन्न विच्छिन्न सौंदर्य में सामञ्जस्य का अनुभव होता है, उसका परिचय इस वाह्यरूप से प्राप्त नहीं हो सकता। इस भाव का अनुभव हम तभी कर सकते हैं, जब हम इस दृश्य की आड़ में छिपी हुई सत्ता का ज्ञान प्राप्त करें।

कवि की कल्पना हमें वस्तु की इसी आभ्यन्तरिक सत्ता का अनुभव करती है। कालिदास ने मेघदूत में जिस कल्पना का परिचय दिया है वह कदापि उनकी खामखयाली नहीं कही जा सकती। वह हमें निखिल विश्व के अनन्त तथा वास्तविक सौंदर्य से परिचित कराती है।

उपनिषद् में कहा गया है "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" अर्थात् इस निखिल जगत् में जो कुछ भी प्रकाशित होता है वही परम तत्व का आनन्दमय अमृतरूप है। किन्तु सभी लोग तो स्वतः इस अमृत रूप से परिचित नहीं होते। हम लोग वस्तु के वाह्यरूप और वाह्य सौंदर्य पर ही मुग्ध हो सकते हैं, पर उसके भीतर जो आनन्द रूप विराज रहा है, उसका तो हमें कुछ भी पता नहीं चलता। पर कवि अपनी सौंदर्यमयी रचना द्वारा जब हमारी आँखों में ज्ञानाञ्जन-शलाका लगाता है तो हमारे सामने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उस अमृत रूप का आभास कुछ न कुछ अंश में अवश्य झलकने लगता है। यह आनन्दमय रूप ही प्रत्येक वस्तु का वास्तविक रूप है।

जब हर वर्षा के आरम्भ में स्निग्ध गम्भीर घोष करने वाले जलधर का नवीन कलेवर देखते हैं तो चित्र में स्वतः जन्म-जन्मान्तर व्यापी विरह का एक अपूर्व भाव सञ्चारित होता है। इस जन्म में पूर्व जन्म से जो विच्छेद हो गया है उसका दुःख हमारे हृदय के अन्तस्तल में हमारे अनजान में जन्म के प्रारम्भ से ही निरन्तर आलोड़ित होता रहता है। वर्षा के प्रारम्भ में नवीन मेघ के दर्शन से हमारे पूर्व जन्म की प्रियतम स्मृतियों का स्पष्ट आभास इस जन्म की करुणा-पूरित मधुर वेदनाओं के साथ मिश्रित होकर हमारे रोम-रोम में एक आनन्द-मय पुलक संचारित कर देता है। यह भाव केवल विरही ही नहीं, सुखी जनों के चित्त में भी एक अन्यमनस्क भाव ला देता है। इसीलिए कालिदास ने कहा है—'मेघालोके भवति सुखिनोप्यन्यथा वृत्तिचेतः।' इसी मूल भाव को लेकर कालिदास ने मेघदूत की रचना की है। इसी भाव को लेकर इस रचना में उन्होंने विश्व प्रकृति की

अन्तरात्मा के भीतर स्थिर रस को धीरे-धीरे अत्यन्त तृप्ति के साथ ग्रहण किया है।

वर्षाकाल में जब हम आकाश में गर्भाधान के क्षण से परिचित हंसगण को बलाका बाँधकर आनन्द के साथ उड़ते हुए देखते हैं, जम्बू कुंज की श्यामल-समृद्धि का रस ग्रहण करते हैं, सजल-नयन शुक्लापांग की पुलक का स्मरण करते हैं, हरित कपिश वर्ण वाले कदम्ब वृक्षों को निरीक्षण करने वाले सारङ्गों का अवलोकन करने लगते हैं, पौरङ्गनाओं के विद्युद्दाम कटाक्ष और जनपद वधू की प्रीति-स्निग्ध दृष्टि के आनन्द का उपभोग करते हैं, निर्जन नगरी की छतों पर रात्रि के समय सुप्त पारावतों को याद करते हैं और चातकों की मधुर नाद सुनते हैं, तो तरुलता, कीट-पतङ्ग, पशुपक्षी, जल स्थल के साथ मानव-हृदय का युग-युगान्त व्यापी सौहार्द का जो भाव उसके अन्त तल-प्रदेश में दबा हुआ रहता है, वह धीरे-धीरे स्फुरित होने लगता है। जिस ब्रह्म ने सृष्टि के आरम्भ में कहा था—'एकोऽहं बहुस्याम्'—एक मैं बहुत रूपों में प्रगट होऊँगा—उसका अद्वैत रूप इस आश्चर्य प्रद अनुभूति के द्वारा झलकने लगता है। हमें यह भी मालूम होने लगता है कि यह जो रमणीय दृश्य हम देख रहे हैं और मधुर शब्द श्रवण कर रहे हैं इन सब की प्रिय स्मृत का नाश इसी जन्म में हमारे-देहावसान के साथ ही नहीं हो जायगा, यह प्रिय अनुभूति जन्म से जन्मांतर को अनन्त काल के लिये धावित होती रहती है।

काम का जो भाव मनुष्य की अनन्तकाल व्यापी चेतना को निरंतर प्रदीप्त करता जाता है, उसके भीतर कितने प्रकार के मधुर रस, कितने प्रकार के रंग भरे हुए हैं, इसका कुछ ठिकाना भी है! इन रसों के मूल सत्त्व में मत्तता नहीं है, आनन्द है; प्रवृत्ति की ताड़ना नहीं है, विलास है; तिक्तता नहीं है, माधुर्य है।

लेकिन इसका भोग करने के लिए गहरी अन्तरानुभूति चाहिए।

अन्यथा जिस कवि अथवा रसज्ञ में यह मर्मानुभूति नहीं होती वह पाशविक प्रवृत्ति को उत्तेजित करने वाले क्षण-स्थायी रस का आस्वादन ही कर सकता है, जो रस जन्म-जन्मांतर के साथ हमारे हृदय का संयोग कराता है, उसका अनुभव वह तिलमात्र भी नहीं कर सकता। कालिदास की संयत तथा निर्लिप्त प्रकृति और मर्मगत अनुभूति ने उनके सौंदर्य-पिपासु हृदय को सौंदर्य का यही अमृतमय रस पान कराया है। समस्त विश्व प्रकृति के अनन्त प्राण से भीतर अनन्त काल से जो अमृत चिदानन्दमय ब्रह्म की रसमय अनुभूति से उत्सारित होकर बहता जाता है उसी के स्रोत में नरनारी के युगल-सम्मिलन से निःसृत कामरस को एकीभूत कर देने से उसके भीतर ब्रह्म का आनन्द रूप प्रतिभात होने लगता है। अलकापुरी के नर नारियों ने इस कामजन्य अमृतमय रस का अनुभव कर लिया है, इसी कारण चिरकाल से इसे पान करके भी वे तृप्त नहीं हैं—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः।
नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्माद् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्तिः
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥

उच्च साहित्य का उद्देश्य सर्वदा यही रहा है कि उसके द्वारा सौन्दर्य तथा रस के सृष्टिकर्त्ता का चिदानन्दमय स्वरूप, क्या जड़ क्या चेतन, सभी पदार्थों में हमारी दृष्टि के आगे प्रतिभात हो जाय। जो कवि सौंदर्य के मूल सृष्टि-कर्त्ता से कुछ भी सरोकार न रखकर काव्य द्वारा रस-सृष्टि करना चाहता है, वह स्वाभाविक नियम के प्रतिकूल काम करता है और अपने आपको ठगता है। कालिदास ने "मेघदूत" में नरनारी के उत्कट प्रेम का चित्र खींचकर जो आनन्द पाया है उसे उन्होंने अकेले भोग करना नहीं चाहा है। "एकोऽहं बहुस्याम्" यह वाक्य जिस सृष्टिकर्त्ता ने घोषित किया था उसने जिन-जिन स्वरूपों में अपने को प्रकट किया है, उन सब को उन्होंने

इस आनन्द यज्ञ में निमन्त्रित किया है, जिससे उसके अद्वैत भाव की महिमा परिस्फुट हो उठे और यह बात स्पष्ट हो जाय कि जो प्राण इस तृण के भीतर संचारित हो रहा है उसी के बल से यह सुन्दर लता लहलहा रही है, उसी के कारण यह रमणीय पुष्प प्रफुल्लित हो रहा है, उसी के बल से यह नदी कलनाद करती हुई बही जा रही है, उसी की अनुभूति से यह हंस-बलाका अत्यन्त प्रसन्न चित्त से आकाश में उड़ान भर रही है, उसी के संयोग से यह गुरु गम्भीर गर्जन करने वाला नील मेघ ऊपर से पृथ्वी पर अपनी स्निग्ध भिन्नांजन माया विस्तारित कर रहा है, उसी की चेतना से यह सुन्दर पुच्छ वाला मयूर मनोहर नृत्य कर रहा है, उसी के ज्ञान से रसिक नर नारी अलकापुरी में सुमधुर क्रीड़ा में रत हैं। निखिल विश्व में इसी प्रकार अनन्त प्राण का खेल चल रहा है। विश्व प्रकृति के सौंदर्य के भीतर इस अनन्त प्राण की खोज करना मेघदूत रचना का उद्देश्य रहा है। केवल कालिदास ही नहीं, संसार के सभी श्रेष्ठ कवियों का लक्ष्य सर्वत्र यही रहा है। संकीर्ण भावों वाला कवि प्रकृति के साथ अपने प्राण के ऐक्य का अनुभव नहीं करता। वह यह बात समझकर भी नहीं समझता कि प्राकृतिक दृश्य उसे इसलिए आनन्द दान कर रहे हैं कि उनके भीतर प्राण की धारा बह रही है जो उसकी आत्मा के भीतर प्रवाहित हो रही है। "सर्वं ब्रह्ममय जगत्" के भाव की उपलब्धि ही साहित्य-साधना का चरम फल है।

इस भाव को मन में रखकर मेघदूत पढ़ने से इस अनिन्द्य सुन्दर काव्य की महिमा दृष्टिगोचर हो सकती है।

१६२४

अन्यथा जिस कवि अथवा रसज्ञ में यह मर्मानुभूति नहीं होती वह पाशविक प्रवृत्ति को उत्तेजित करने वाले क्षण-स्थायी रस का आस्वादन ही कर सकता है, जो रस जन्म-जन्मांतर के साथ हमारे हृदय का संयोग कराता है, उसका अनुभव वह तिलमात्र भी नहीं कर सकता। कालिदास की संयत तथा निलिप्त प्रकृति और मर्मगत अनुभूति ने उनके सौंदर्य-पिपासु हृदय को सौंदर्य का यही अमृतमय रस पान कराया है। समस्त विश्व प्रकृति के अनन्त प्राण से भीतर अनन्त काल से जो अमृत चिदानन्दमय ब्रह्म की रसमय अनुभूति से उत्सारित होकर बहता जाता है उसी के स्रोत में नरनारी के युगल सम्मिलन से निःसृत कामरस को एकीभूत कर देने से उसके भीतर ब्रह्म का आनन्द रूप प्रतिभात होने लगता है। अलकापुरी के नर नारियों ने इस कामजन्य अमृतमय रस का अनुभव कर लिया है, इसी कारण चिरकाल से इसे पान करके भी वे तृप्त नहीं हैं—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः।
नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्माद् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्तिः
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥

उच्च साहित्य का उद्देश्य सर्वदा यही रहा है कि उसके द्वारा सौन्दर्य तथा रस के सृष्टिकर्त्ता का चिदानन्दमय स्वरूप, क्या जड़ क्या चेतन सभी पदार्थों में हमारी दृष्टि के आगे प्रतिभात हो जाय। जो कवि सौंदर्य के मूल सृष्टि कर्त्ता से कुछ भी सरोकार न रखकर काव्य द्वारा रस-सृष्टि करना चाहता है, वह स्वाभाविक नियम के प्रतिकूल काम करता है और अपने आपको ठगता है। कालिदास ने "मेघदूत" में नरनारी के उत्कट प्रेम का चित्र खींचकर जो आनन्द पाया है उसे उन्होंने अकेले भोग करना नहीं चाहा है। "एकोऽहं बहुस्याम्" यह शब्द जिस सृष्टिकर्त्ता ने घोषित किया था उसने जिन जिन स्वरूपों में अपने को प्रकट किया है, उन सब को उन्होंने

होता है। आदर्श किसे कहेंगे ? मानवी आत्मा की महत्तम वृत्तियों का विकास जब पूर्णता प्राप्त कर लेता है तब वह वृत्तियाँ जिन जिन स्वरूपों में अपने को प्रकट करती हैं, वे आदर्श कहलाते हैं।

कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल आदर्शात्मक रचना है। हिन्दी के अधिकांश साहित्यालोचकों का कहना है कि इस ग्रन्थ में कालिदास का मूल उद्देश्य केवल शृंगार रस प्रस्फुटित करने का रहा है। वे लोग इस विश्व वन्दनीय काव्य में कालिदास की ललित शब्द रचना तथा कोमल-कान्त पदावली देखकर ही मुग्ध हैं। वे दुष्यन्त तथा शकुन्तला का प्रणयाख्यान पढ़कर ही तृप्त हैं और 'हला पिय सहि' पढ़कर शकुन्तला की सखियों के श्रुति मधुर आह्वान का स्मरण करके ही पुलकित हो जाते हैं। वे नव-रसाल मंजरी की शोभा और सुगन्धि से ही मोहित होकर प्रसन्न रहते हैं और इस बात पर विचार करने का धैर्य उनमें नहीं रहता कि इस मंजरी की परिणति कहाँ पर है। यदि शकुन्तला नाटक कालिदास ने केवल नवीन प्रेमिका के चंचल प्रेम का राग अलापने के लिए ही लिखा होता, तो अत्यन्त कोमल तथा कान्त पदावली और ललित उपमाओं के होने पर भी वह रचना कभी स्थायित्व प्राप्त न कर सकती। कालिदास जानते थे कि शकुन्तला के प्रथम यौवन का वह विलास लालसामय प्रेम व्यर्थ तथा शिव और सुन्दर से हीन है, और उसे लेकर कभी कोई श्रेष्ठ रचना नहीं रची जा सकती, पर काम रस के भीतर एक प्रचण्ड सत्य ठीक उसी प्रकार वर्तमान रहता है जिस प्रकार पंक के भीतर कमल का बीज। पंक के भीतर होने पर भी इस बीज की अवज्ञा नहीं की जा सकती। कालिदास की दृष्टि समस्त काव्य में केन्द्रस्थ होकर इसी सत्य पर जा ठहरी है। इस सत्य के विकास की परिणति दिखलाना ही उसका मूल उद्देश्य रहा है।

गेटे ने शकुन्तला नाटक पर मुग्ध होकर लिखा है:—

"क्या तू तरुण वयस का मुकुल और परिणति वयस का फल

साहित्य-सम्बन्धी कतिपय तथ्य

१

आधुनिक युग आदर्शवाद तथा वास्तववाद के सम्मिश्रण का युग है। इस युग के साहित्यालोचक तथा साहित्योपासकगण कला-सम्बन्धी किसी रचना की श्रेष्ठता की परख इसी कसौटी द्वारा किया करते हैं। कहना नहीं होगा कि इस कसौटी में संसार साहित्य की बहुत कम रचनायें खरी उतरती हैं, जिन रचनाओं को अधिकांश साहित्यालोचक श्रेष्ठ समझते आये हैं, उनकी इस कसौटी द्वारा परख होने से उनमें से कई रचनाएँ खोटी निकलेंगी। साहित्यालोचना की इस कसौटी के प्रवर्त्तक पश्चिम में टाल्सटाय हुए हैं। उनकी मृत्यु के बाद उनकी आलोचनाओं का साहित्य समाज में बहुत प्रभाव पड़ा जो उनके योग्यतम शिष्य रोमां रोलां द्वारा अधिक बढ़ गया। पूर्व में इस आलोचनादर्श के उन्नायक रवीन्द्रनाथ हुए हैं।

हिन्दी में 'आदर्श' शब्द का अत्यन्त संकीर्ण तथा विकृत अर्थ किया जाता है। इसी कारण 'प्रभा' की दिसंबर (१९२३) की संख्या में रोमां रोलां की जो जीवनी छपी है उसमें मैं Idealism के बदले 'आध्यात्मिक' शब्द को काम में लाया हूँ। Idealism शब्द Idea से निकला है, जिसका अर्थ है भाव। भाव का आत्मा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसीलिए उस शब्द के बदले मैंने 'आध्यात्मिकता' का व्यवहार किया है। (स्मरण रहे कि इस लेख में 'आत्मा' शब्द का व्यवहार वेदान्तिक अर्थ में नहीं किया गया है। जिसे अंग्रेजी में soul कहते हैं, उसी अर्थ में यह शब्द व्यवहृत किया जाएगा।) आदर्श-भाव का तात्पर्य कुछ लोग तुच्छ नैतिक श्रेष्ठता समझते हैं। जब किसी रचना में लेखक क्षुद्र नैतिक उपदेश भर देता है तो ऐसे लोग कह बैठते हैं कि इसमें अत्युच्च आदर्श दर्शाये गये हैं। 'आदर्श' शब्द का यह संकीर्ण प्रयोग देखकर वास्तव में दुःख

होता है। आदर्श किसे कहेंगे? मानवी आत्मा की महत्तम वृत्तियों का विकास जब पूर्णता प्राप्त कर लेता है तब वह वृत्तियाँ जिन जिन रचनाओं में अपने को प्रकट करती हैं, वे आदर्श कहलाते हैं।

कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल आदर्शात्मक रचना है। हिन्दी के अधिकांश साहित्यालोचकों का कहना है कि इस ग्रन्थ में कालिदास का मूल उद्देश्य केवल शृंगार रस प्रस्फुटित करने का रहा है। ये लोग इस विश्व वन्दनीय काव्य में कालिदास की ललित शब्द रचना तथा कोमल-कान्त पदावली देखकर ही मुग्ध हैं। वे दुष्यन्त तथा शकुन्तला का प्रणयाचार पढ़कर ही तृप्त हैं और 'हला पियंवदे' पढ़कर शकुन्तला की सखियों के श्रुति मधुर आह्वान का स्मरण करके ही पुलकित हो जाते हैं। वे नव-रसाल मंजरी की शोभा और सुगन्धि से ही मोहित होकर प्रसन्न रहते हैं और इस बात पर विचार करने का धैर्य उनमें नहीं रहता कि इस मंजरी की परिणति कहाँ पर है। यदि शकुन्तला नाटक कालिदास ने केवल नवीन प्रेमिका के चंचल प्रेम का राग अलापने के लिए ही लिखा होता, तो अत्यन्त कोमल तथा कान्त पदावली और ललित उपमाओं के होने पर भी वह रचना कभी स्थायित्व प्राप्त न कर सकती। कालिदास जानते थे कि शकुन्तला के प्रथम यौवन का वह विलास लालसामय प्रेम व्यर्थ तथा शिव और सुन्दर से हीन है, और उसे लेकर कभी कोई श्रेष्ठ रचना नहीं रची जा सकती, पर काम रस के भीतर एक अखण्ड सत्य ठीक उसी प्रकार वर्तमान रहता है जिस प्रकार पंक के भीतर कमल का बीज। पंक के भीतर होने पर भी इस बीज की अवज्ञा नहीं की जा सकती। कालिदास की दृष्टि समस्त काव्य में केन्द्रस्थ होकर इसी सत्य पर जा ठहरी है। इस सत्य के विकास की परिणति दिखलाना ही उसका मूल उद्देश्य रहा है।

गेटे ने शकुन्तला नाटक पर मुग्ध होकर लिखा है:—

"क्या तू तरुण वयस का मुकुल और परिणति वयस का फल

(एक साथ) चाहती है ? क्या तू ऐसी वस्तु चाहती है जो (आत्मा को) सम्मोहित और पुलकित करे, और जो उसके सुधा की शान्ति करे तथा उसे खाद्य द्वारा परिपुष्ट करे ? क्या तू चाहती है कि स्वर्ग और मर्त्य का तातपर्य एक ही नाम द्वारा विदित हो जाय ? तो हे शकुन्तले ! मैं तेरा नाम लेता हूँ और उसके भीतर ये सब बातें आ जाती हैं ।'

गेटे की इन पंक्तियों से स्पष्ट विदित हो जाता है कि वह ग्रन्थ के आरम्भ में नव रसाल मंजरी का लालित्य तथा माधुर्य देखकर ही अन्धा नहीं हो गया है । वह जानता है कि इस ललित मजरी की सार्थकता फल के रूप में परिणत होने में है । नारी के प्रेम की चरम सार्थकता मातृत्व में है । नारी का प्रेम चिरकाल इसीलिए महत् गिना गया है कि उसकी परिणति मातृत्व में है । शकुन्तला के प्रथम यौवन का प्रेम जो तरुण वयस के मुकुल के समान था, वह उसके मातृत्व के रूप में फलीभूत होता है और उसकी परिणति सर्वदमन की उत्पत्ति में होती है । उसके परिणत वयस का फल उसका पुत्र सर्वदमन है । जब शकुन्तला के चंचल प्रेम में आघात पहुँचता है, जब दुष्यन्त उसे अपनी स्त्री होने से अस्वीकार करते हैं, तो वह अपने पति को निविड़ घृणा के साथ धिक्कारती है । यह धिक्कार प्रेम की चंचलता का लक्षण है । यह धिक्कार उसके हृदय समुद्र का फेन है जिसे देख कर समुद्र के वास्तविक रूप का भ्रम होता है, पर समुद्र का रूप वास्तव में वैसा नहीं है । समुद्र का भीतरी रूप अत्यन्त गम्भीर तथा प्रशान्त है । शकुन्तला के हृदय के निगूढ़तम प्रदेश में दुष्यन्त के प्रति प्रेम का जो भाव वर्तमान था वह उसके अनजान में भीतर ही भीतर शान्त तथा स्थिर होकर विराज रहा था । उन दोनों के विरह के बाद वह शिव तथा सुन्दर से युक्त शान्तिमय प्रेम धीरे-धीरे अपना रूप प्रगट करता है । फिर शकुन्तला के मन में अपने प्रेमास्पद के प्रति कोई मान तथा क्रोध का भाव वर्तमान नहीं रहता और वे दोनों

विरह के भीतर ही मिलन का भाव पाते हैं। और जब इन्द्रलोक में पुत्र के सामने पति-पत्नी का यथार्थ मिलन होता है तो वह दृश्य कितना निर्विकार, स्निग्ध तथा सुन्दर हो जाता है। ग्रन्थ के आरम्भ में प्रदर्शित शृंगार रस की चरम सार्थकता इसी भाव के प्रस्फुटन में है। इसलिए गेटे ने लिखा है कि स्वर्ग और मर्त्य शकुन्तला में एक साथ पाये जाते हैं। शकुन्तला का चंचल प्रेम मर्त्य का भाव जतलाता है और उसका मातृत्वोधक मंगलमय रूप स्वर्ग का।

इस नाटक में मनुष्य की चित्तवृत्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म तथा सुन्दर वर्णन करके कालीदास ने प्रेम की यह जो अपूर्व परिणति दिखलाई है, वही आदर्श है। कितनी रसमय रचना है और साथ ही कितनी मंगलप्रद है! रस के साथ महान् आदर्श का इतना सुन्दर समावेश संसार का अन्य कोई भी कवि दिखला सका है या नहीं, इसमें सन्देह है। शिव और सुन्दर का संयोग इसमें इतने अच्छे ढंग से दिखलाए जाने के कारण ही रचना चिरन्तर काल के लिए अमर हो गई है। यदि कालिदास तात्कालिक किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक आंदोलन को लेकर किसी सिद्धांत विशेष के प्रचार के लिए कोई काव्य रचते, तो उनकी रचना दस साल के अन्दर ही लोप हो जाती। यदि वह मनुष्य को नैतिक उपदेश देने के लिए किसी नाटक की रचना करते तो इनका महत्त्व भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता। पर वह जानते थे कि मानवी आत्मा का उत्कर्ष अनंत के साथ मिलित है और वह राजनीतिक आंदोलन तथा नैतिक उपदेशों से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। वह जानते थे कि मानवी आत्मा का सत्य चिरन्तन है और वह साधारण तात्त्विक सत्य से बहुत ऊँचा है। इस प्रचण्ड सत्य को मिटाने की सामर्थ्य विधाता में भी है या नहीं, इसमें सन्देह है।

अब पाठक समझ गये होंगे कि आदर्श भाव लोकहित की शिक्षा की अपेक्षा बहुत उन्नत है। आदर्श का सम्बन्ध आत्मा से है और लोकहित की शिक्षा का तुच्छ सांसारिक नियमों से। पंचतत्र के

उपदेश और चाणक्य की नीतियाँ संसारी मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। पर उनमें वर्णित सत्य गीता तथा उपनिषत् के महत् भावों के सामने बिलकुल फीका तथा तुच्छ हो जाता है। इसी तरह किसी श्रेष्ठ कवि की आदर्शात्मक रचना के सामने भी उक्त उपदेश ढोंग मालूम देते हैं। श्रेष्ठ कवि नीति का बन्धन नहीं मानता। वह जानता है कि वह जिस प्रचण्ड सत्य को प्रतिष्ठित करने बैठा है उसके सामने नैतिक नियम नगण्य हैं। वह आगे को बढ़ता ही जाता है और इस बात की परवाह भी नहीं करता कि उसके उद्देश्य के नीचे नीति के नियम साबूत बचे हैं या दलित हो गये हैं। वर्त्तमान को लेकर ही वह काव्य नहीं रचता। भविष्य की ओर भी उसकी दृष्टि जाती है। वह जानता है कि साधारण नीति देश और काल के भेद से बदलती जाती है; इस कारण उनका पालन वह आवश्यक नहीं समझता।

२

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि आदर्शात्मक रचना ही श्रेष्ठ रचना है, तो कालिदास का मेघदूत श्रेष्ठ गीति-काव्य क्यों गिना जाता है और प्रेम सम्बन्धी कविताओं का स्थान संसार में सबसे ऊँचा क्यों है? प्रश्न जटिल है, इसमें सन्देह नहीं। इसलिए इस पर ध्यान-पूर्वक विचार करना होगा। आदर्श किसे कहना चाहिए, इसकी व्याख्या करते हुए हम आरम्भ में लिख आये हैं कि मानवी आत्मा की महत्तम वृत्तियों का विकास जब पूर्णता प्राप्त कर लेता है तब वह वृत्तियाँ जिन-जिन स्वरूपों में अपने को व्यक्त करती हैं वे ही आदर्श कहलाये जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य की आत्मा के भीतर जो रस का भाव भरा हुआ है वह महत्तम वृत्ति है या नहीं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों को लेकर ही चेतन प्रकृति बनी हुई है। रस का अस्तित्व होने से ही अध्यात्मवादी अनन्त प्रेममय ब्रह्म के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। उपनिषद् में ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है "रसो वै स." अर्थात् वह रसमय है। इस कारण रस का भाव महत्तम वृत्तियों में ही

गिना जायगा और उसका विकास जब पूर्णता प्राप्त कर लेता है तब वह जिस किसी भी रूप में प्रकट होता है, उसे हम आदर्श कहेंगे। अतएव कालिदास का मेघदूत, संसार के अन्यान्य कवियों द्वारा रचित प्रेम-सम्बन्धी कवितायें आदर्शात्मक हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि उपर की उक्ति पढ़ते ही 'मातृ भाषा गौरव' का बहुत ज्यादा ख्याल रखने वाले पाठकगण इस सिद्धांत पर पहुँचने की शीघ्रता करेंगे कि हिन्दी संसार के जनप्रिय तथा प्रेमास्पद कवि देव और विहारी की रचनायें भी आदर्शात्मक तथा श्रेष्ठ हैं। पर खेद है कि मैं इतना अधिक मातृभक्त नहीं हो उठा हूँ कि अपने मातृ-भण्डार की आवर्जना को भी अमूल्य वस्तु बतलाऊँ।

कालिदास का मेघदूत तथा रवीन्द्रनाथ आदि कवियों की प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं को श्रेष्ठ तथा आदर्शात्मक घोषित करने पर और देव विहारी आदि कवियों की रचनाओं को आवर्जनां बतलाने के कारण अवश्य ही मेरी उक्ति पर मातृभाषा के प्रेमी पाठकगण उसे पक्षपातपूर्ण बतलायेंगे। इस दोषारोपण के लिए मैं पहले से ही तैयार हूँ। पर पाठकों को जरा धैर्य रखना चाहिए। मैं यथाशक्ति उनकी शङ्काओं का समाधान करने की चेष्टा करूँगा।

संसार में आज तक जितने श्रेष्ठ कवि पैदा हुए हैं, उनकी आत्माओं के भीतर बहुधा उनके अनजान में उनके जीवन के प्रारम्भ से ही एक निबिड़ साधना चला करती है। उस आन्तरिक तथा सहज साधना के द्वारा कवि की समस्त चित्तवृत्तियाँ एकत्रित होकर एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेती हैं जिससे मात्रास्पर्शादि गुणों पर कवि का प्रभाव रहता है, उनका कवि पर नहीं। बहुधा कवि के साथ ऋषि की तुलना की जाती है। वास्तव में दोनों का लक्ष्य एक है, यद्यपि मार्ग उल्टे हैं। यह विचारना भूल है कि साधकगण रसास्वादन नहीं कर सकते। सच तो यह है कि रस का वास्तविक आस्वादन तभी किया जा सकता है, जब नैसर्गिक उपाधियों का दास न रहा जाय। इसमें सन्देह नहीं

कि मेरी उक्ति बिलकुल विरोधाभासात्मक मालूम देती है। पर यही वास्तविक तथ्य है।

नैसर्गिक बन्धनों का दास बनकर और विषय में लिप्त रहकर रस-भोग करना वैसा ही है जैसे कोई मक्खी दूध के बर्तन में गिरकर दूध का रस ग्रहण करती हो। सभी जानते हैं कि नारद मुनि कितने रसिक थे। महर्षि वाल्मीकि तथा वेदव्यास में रस-शोषण करने की कितनी शक्ति वर्तमान थी, यह बात उनके अनन्त तथा अक्षय रस के सागर चिर अमर महाकाव्य रामायण तथा महाभारत द्वारा जानी जा सकती है। इस अनन्त काव्यद्वय ने भारत के परवर्ती समस्त कवियों को प्रेरणा प्राप्त हुई है। महाप्रभु चैतन्य के समान रसज्ञ कौन था? वह विरागी होने पर भी रस के अनन्त सागर में डूबे हुए थे, इस बात को अस्वीकार करने की सामर्थ्य किसमें है? हमारे भोलानाथ अनादि काल से वैराग्य-साधन करने पर भी कितने रस-पिपासु हैं, इस बात को वे ही समझ सकते हैं जो उनके युग-युगान्तरव्यापी भीषण ताण्डव-नृत्य का रहस्य समझ गये हैं। अरसिक कभी नृत्य नहीं कर सकता! तब जो देवता अनादि काल से इस भयावह नृत्य में मत्त हैं, उसकी रस पिपासा भी कितनी भीषण है इसका अनुमान सहज ही में किया जा सकता है। फिर चाहे वह रस मृत्यु-रस ही क्यों न हो। क्या मृत्यु के भीतर रस नहीं है? इस जीवन्त संसार का रस नित्य प्रतिपल मृत्यु की ओर प्रवाहित होता जाता है यह दृश्य श्रेष्ठ ऋषि तथा कविगण सर्वदा देखते आये हैं। मृत्यु के भीतर जितना रस संचित है उसका लक्षांश भी क्या इस जीवित संसार में वर्त्तमान है? गङ्गासागर के जल की तुलना क्या नदियों के जल से की जा सकती है?

रवीन्द्रनाथ को लोग बहुधा महर्षि कहा करते हैं। पाश्चात्य देशवासियों ने उनके स्वच्छ हृदय की तुलना श्रेष्ठ मानव प्रेमिक ईसा-मसीह से की है। लोगों को आश्चर्य होता है कि जो कवि युवावस्था में उन्मत्त प्रेम की उद्दाम कविताएँ लिख गया है, उसके भीतर तपस्वी

की आत्मा की छाया पायी जाती है, पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऐसा होना सम्पूर्ण स्वाभाविक है। कालिदास के हृदय में तपस्वी का भाव वर्त्तमान नहीं था, यह कौन कह सकता है ? उनकी कविताओं में लालसामय प्रेम का नग्न चित्र अंकित होने पर भी उनके भीतर उनकी आत्मा के निर्लिप्त भाव की छाया इतने स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुई है कि उसमें भूल हो ही नहीं सकती। गेटे के सुप्रसिद्ध नाटक 'फौस्ट' को पढ़ते ही मालूम हो जाता है कि इस प्रमत्त प्रणय का रसपान करने वाले कवि की साधना सफलता की चरम परिणति को पहुँच चुकी है।

कवि के अन्तर की यह सहज साधना इतनी सत्य है कि टाल्सटाय को जब इसके अस्तित्व का अनुभव हुआ तो उनकी मानसिक दशा बड़ी विचित्र हो गई और वह आत्मघात करने पर भी उतारू हो गये थे। कवि कि आत्मा के भीतर जब यह साधना जारी रहती है तो उसके साथ कवि की चित्तवृत्तियों का ऐसा संघर्षण चलता है कि जिसका वर्णन स्वयं कवि नहीं कर सकता। यह नियम प्रत्येक श्रेष्ठ कवि के लिए लागू है। जब तक साधना समाप्त नहीं हो जाती तब तक द्वंद्व चलता ही रहता है। मैक्सिम गोर्की की मानसिक दशा भी एक बार बुरी हो गई थी और उसने स्वयं अपनी आत्मघात करने की प्रवृत्ति स्वीकार की है। इस संघर्षण के समय कवि जो रचना रचता है उसमें द्वंद्व-भाव का समावेश रहता है, जिससे रचना का सौंदर्य और भी बढ़ जाता है। कालिदास के मेघदूत तथा रवीन्द्रनाथ की प्रेम संबंधी कवि-ताओं में उन्मत्त वासना की चञ्चल तरंग बहने पर भी इतनी सहृदयता भरी हुई है कि उसकी अवज्ञा किसी प्रकार नहीं की जा सकती। उक्त रचनाओं में कवि की वास्तविक रसपान करने की उतनी उत्कट प्रवृत्ति का परिचय मिलता है कि प्रत्येक पाठक अपने हृदय के अन्तस्तल में उसका अनुभव करता है। इन रचनाओं में कवि के हृदय में वर्त्तमान बालकोचित सरलता, निष्पाप प्रवृत्ति तथा सहृदयता का भाव और

युवकोचित भोगेच्छा तथा रस-पिपासा का भाव एक दूसरे के साथ इस ढंग से मिल गये हैं कि उनमें एक को दूसरे से विच्छिन्न करना असम्भव है। इसमें सन्देह नहीं कि इन रचनाओं में रस-भोग का भाव ही मूल भाव है, पर इस भाव के अतिरिक्त एक और भाव जो उनकी आड़ में छिपा हुआ झाँका करता है, वह अवहेलना के योग्य नहीं है। इस अतिरिक्त भाव के द्वारा ही कवि की आत्मा में चलने वाली साधना तथा उसके हृदय के निर्लिप्त भाव का पता चलता है।

कालिदास का मेघदूत और रवीन्द्रनाथ की प्रेम सम्बन्धी बहुत सी कवितायें उस समय की लिखी हुई हैं जब इन दोनों कवियों की आत्मा के भीतर साधना चल रही थी और समाप्त नहीं हो चुकी थी। जब इन कवियों की साधना समाप्त हो चुकी, तो उनकी रचनाओं ने भी दूसरा रूप धारण कर लिया। 'कुमारसम्भव' कालिदास ने तब रचा जब साधना समाप्त होने को थी। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' साधना के पूर्णतया समाप्त होने पर रचा गया था। इसी तरह रवीन्द्रनाथ ने भी जब साधना समाप्त होने पर प्रेम-सम्बन्धी कवितायें रचीं तो उनमें उन्होंने नारी को उसके सभी रूपों में चित्रित किया है। इस स्थिति में भी उन्होंने नारी के रतिजन्य रूप की अवहेलना नहीं की है, पर उनका ध्यान प्रधानतया उसके मंगलमय रूप पर आकृष्ट हुआ है।

देव और बिहारी की कविताओं को पढ़ने पर यह बात खटकती है कि इन कवियों को आनन्दमय रस पान करने का कोई अधिकार नहीं है। पढ़ने वाले को ऐसा मालूम देता है कि ये कवि रस में इतनी बुरी तरह डूब गये हैं कि न तो उसे पान ही कर सकते हैं और न उसमें से बाहर ही निकल सकते हैं। 'मेघदूत' को पढ़ने पर यह मालूम हो जाता है कि इसका रचयिता शकुन्तला नाटक का प्रणयन कर सकता है, रवीन्द्रनाथ की प्रेम सम्बन्धी कविताओं को पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कवि मानव-जीवन का अद्भुत रहस्य उद्घाटित करके [illegible] मनुष्य की दृष्टि [illegible]

करा सकता है और चिदानन्दमय परम पुरुष के रसमय रूप को अपनी कविताओं में प्रतिविम्बित कर सकता है, पर देव और बिहारी की रचनाओं को पढ़कर यह नहीं जँचता कि ये कवि महान् तत्व की कोई भी बात प्रकट कर सकते हैं।

साधक कवि सौन्दर्य के नये नये लोकों में विचरण करता है और रस के विभिन्न सागरों में गोते लगता है। यह बात बिहारी आदि कवियों में नहीं पाई जाती। वे अपने प्रेम-पङ्क के संकीर्ण घेरे के भीतर बन्द रह कर उस पंक को मथित करने में ही व्यस्त रहते हैं। प्राकृतिक रस वैचित्र्य के साथ कवि के सौन्दर्य-पिपासु मानस का जो घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, उसका अनुभव ऐसे कवि नहीं कर सकते। यही कारण है कि उन्मत्त प्रेम का नग्न चित्र खींचने पर भी "मेघदूत" आत्मा को नित्य नवीन आनन्द प्रदान करने वाली शीतल, मंद तथा सुगन्धित युक्त समीर बहाया करता है और जयदेव का गीत गोविंद, बिहारी की सतसई आदि ग्रंथ राधा-कृष्ण की दुहाई देने पर भी प्रतिक्षण प्रेम-पङ्क से निर्गत तीव्र दुर्गंधयुक्त निःश्वास उद्गीरित किया करते हैं।

३

जयदेव का "गीतगोविंद" भक्तिरस प्रधान काव्य के नाम से विख्यात है। बंगाल में यह काव्य बिना किसी द्विधा के विधवा स्त्रियों के हाथ में दे दिया जाता है। जब मेरी अवस्था तेरह वर्ष की थी तब यह काव्य मुझे पहले पहल पढ़ने को मिला। किसी ने मुझे इसे पढ़ने से निषेध नहीं किया। जब इसके कुछ पृष्ठ मैंने पढ़ लिये तो मेरी अवस्था छोटी होने पर भी, काव्य का मूल उद्देश्य मेरे सामने इतने स्पष्ट रूप से झलकने लगा कि किसी अन्य व्यक्ति के सामने उसे पढ़ने में मुझे अत्यन्त लज्जा मालूम देने लगी। फिर भी मैंने किसी प्रकार उसे पूरा पढ़ ही लिया। बड़े बड़े 'साहित्य मार्तण्डों' को मैंने इस ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए सुना था, इसलिए प्रकाश्य रूप से इसकी निन्दा मैं किसी के सामने नहीं कर सकता था। और तो क्या, मैं जब-

युवकोचित भोगेच्छा तथा रस-पिपासा का भाव एक दूसरे के साथ इस ढग से मिल गये हैं कि उनमें एक को दूसरे से विच्छिन्न करना असम्भव है। इसमें सन्देह नहीं कि इन रचनाओं में रस-भोग का भाव ही मूल भाव है, पर इस भाव के अतिरिक्त एक और भाव जो उनकी आड़ में छिपा हुआ झाँका करता है, वह अवहेलना के योग्य नहीं है। इस अतिरिक्त भाव के द्वारा ही कवि की आत्मा में चलने वाली साधना तथा उसके हृदय के निर्लिप्त भाव का पता चलता है।

कालिदास का मेघदूत और रवीन्द्रनाथ की प्रेम सम्बन्धी बहुत सी कवितायें उस समय की लिखी हुई हैं जब इन दोनों कवियों की आत्मा के भीतर साधना चल रही थी और समाप्त नहीं हो चुकी थी। जब इन कवियों की साधना समाप्त हो चुकी, तो उनकी रचनाओं ने भी दूसरा रूप धारण कर लिया। 'कुमारसम्भव' कालिदास ने तब रचा जब साधना समाप्त होने को थी। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' साधना के पूर्णतया समाप्त होने पर रचा गया था। इसी तरह रवीन्द्रनाथ ने भी जब साधना समाप्त होने पर प्रेम-सम्बन्धी कवितायें रचीं तो उनमें उन्होंने नारी को उसके सभी रूपों में चित्रित किया है। इस स्थिति में भी उन्होंने नारी के रमणीय रूप की अवहेलना नहीं की है, पर उनका ध्यान प्रधानतया उसके मंगलमय रूप पर आकृष्ट हुआ है।

स्थानाभाव के कारण यहाँ पर हम उनके पूरे वक्तव्य का अनुवाद नहीं दे सकते। केवल यह जतला देना काफी होगा कि लेखक ने भारतचन्द आदि कवियों की कविता को शब्द-जाल से पूर्ण कौशलमयी रचना बतलाया है और यह भी लिखा है कि उनमें आत्मा को उच्च भाव से प्रणोदित करने वाले उच्च तत्त्व नहीं बल्कि कुरुचि को उभाड़ने वाले भाव पाये जाते हैं।

'वङ्गभाषा और साहित्य' शीर्षक ग्रन्थ के एक स्थान पर दिनेश बाबू ने लिखा है कि जब बंगाल के कवियों की रचनाओं में देवी-देवत पाप के आवरण नाम पर कविगण व्यभिचार मूलक कवितायें लिखने लगे थे तब पौत्तलिकता के विरुद्ध युद्ध घोषित करने के लिए राममोहन राय जैसे महापुरुष के जन्म का समय हो गया था, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ पर जतला देना उचित होगा कि दिनेश बाबू कट्टर हिन्दू थे और यदि उक्त कवियों की रचनाओं में आध्यात्मिक व्याख्या करने का कुछ भी सामान मौजूद होता तो वे मेरी राय में सबसे पहले ऐसा करते। पर उनमें देवी-देवता का प्रेम-चर्चा के नाम पर कोरा काम-प्रलाप देखने पर उन्हें ये सब बातें लिखनी पड़ीं।

हिन्दी-साहित्य के दुर्भाग्य से उसमें भी ऐसे कवि उत्पन्न हो गये, जिन्होंने अलकार शास्त्र का पचड़ा लेकर भाव तथा रस-शून्य कविता रचने के लिए कमर कस ली। जहाँ तुलसीदास और सूरदास की भाव-मयी रचनायें अलंकार-शास्त्र की सम्पूर्ण अवज्ञा करके नये नये रस, नये-नये आदर्श तथा नये नये भाव मानव-जाति के कल्याणार्थ उत्पादित करती थीं, वहाँ बिहारी, देव, मतिराम आदि कवियों की कलाहीन पर कौशलमयी रचनायें लोकप्रिय हो उठीं। यह युग वास्तव में हिन्दी-साहित्य की अधोगति का युग था। संस्कृत-साहित्य की अधोगति के युग में अमरुक विह्लण, गोवर्द्धनाचार्य, भिक्षाटन आदि कवियों का आविर्भाव हुआ था। इससे अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है कि संस्कृत, बंगला तथा हिन्दी-साहित्य की अधोगति उन्नति के भ्रम

र्दस्ती मन को समझाने लगा कि कवियों की तारीफ ललित शब्द रचना करके वासना का विष उद्गीर्ण करने में ही है। इसके अतिरिक्त कवियों के "विशेष लायसेन्स" की बात भी मैं बहुत बार सुन चुका था। एक साल बाद मुझे चंडीदास तथा विद्यापति की पदावलियों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन पदावलियों में अपूर्व आध्यात्मिक भाव पाकर मैं स्तम्भित हो गया। सब से अधिक आश्चर्य इस बात पर हुआ कि जयदेव का 'गीतगोविंद' और ये पदावलियाँ, दोनों भक्ति-रस-पूर्ण रचनायें बतलाई जाती हैं। मैंने इन दोनों में आकाश-पाताल का अंतर पाया। मेरी क्षुद्र बुद्धि में विद्यापति और चंडीदास की रचनायें भाव-प्रधान जँची और 'गीतगोविन्द' में मैंने कामी का प्रलाप पाया। पीछे मुझे बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र का 'अन्नदा-मङ्गल' और उनके शिष्यों की रचनायें भी पढ़ने को मिलीं। 'अन्नदामंगल' की एक ज़माने में इतनी धाक थी कि माइकेल के 'मेघनाद वध' के साथ इसे स्थान मिलता था। इस काव्य में अणुमात्र भाव तथा बिन्दुमात्र रस न पाने पर और इसकी गन्दगी देखकर मैं तत्कालीन निराश हो गया। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि क्यों साहित्य महारथी

स्थानाभाव के कारण यहाँ पर हम उनके पूरे वक्तव्य का अनुवाद नहीं दे सकते। केवल यह जतला देना काफी होगा कि लेखक ने भारतचन्द आदि कवियों की कविता को शब्द-जाल से पूर्ण कौशलमयी रचना बतलाया है और यह भी लिखा है कि उनमें आत्मा को उच्च भाव से प्रणोदित करने वाले उच्च तत्त्व नहीं वल्कि कुरुचि को उभाड़ने वाले भाव पाये जाते हैं।

'वङ्गभाषा और साहित्य' शीर्षक ग्रन्थ के एक स्थान पर दिनेश बाबू ने लिखा है कि जब बंगाल के कवियों की रचनाओं में देवी-देवत पाप के आवरण नाम पर कविगण व्यभिचार मूलक कवितायें लिखने लगे थे तब पौत्तलिकता के विरुद्ध युद्ध घोपित करने के लिए राममोहन राय जैसे महापुरुप के जन्म का समय हो गया था, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ पर जतला देना उचित होगा कि दिनेश बाबू कट्टर हिन्दू थे और यदि उक्त कवियों की रचनाओं में आध्यात्मिक व्याख्या करने का कुछ भी सामान मौजूद होता तो वे मेरी राय में सबसे पहले ऐसा करते। पर उनमें देवी-देवता का प्रेम-चर्चा के नाम पर कोरा काम-प्रलाप देखने पर उन्हें ये सब बातें लिखनी पड़ीं।

हिन्दी-साहित्य के दुर्भाग्य से उसमें भी ऐसे कवि उत्पन्न हो गये, जिन्होंने अलकार शास्त्र का पचड़ा लेकर भाव तथा रस-शून्य कविता रचने के लिए कमर कस ली। जहाँ तुलसीदास और सूरदास की भावमयी रचनायें अलंकार-शास्त्र की सम्पूर्ण अवज्ञा करके नये नये रस, नये-नये आदर्श तथा नये नये भाव मानव-जाति के कल्याणार्थ उत्पादित करती थीं, वहाँ विहारी, देव, मतिराम आदि कवियों की कलाहीन पर कौशलमयी रचनायें लोकप्रिय हो उठीं। यह युग वास्तव में हिन्दी-साहित्य की अधोगति का युग था। संस्कृत-साहित्य की अधोगति के युग में अमरुक विह्लन, गोवर्द्धनाचार्य, भिक्षाटन आदि कवियों का आविर्भाव हुआ था। इससे अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है कि संस्कृत, बंगला तथा हिन्दी-साहित्य की अधोगति उन्नति के भ्रम

सामान्य प्रशंसा भले ही पायी हो, पर उसके उत्ताल-तरङ्गित कल्लोल प्रवाह में जो प्रेरणा परवर्ती साहित्यिकों को प्राप्त हुई उसकी कल्पना, उसका अनुमान शेक्सपीयर के समसामयिक साहित्यिक स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे; शेक्सपीयर अपने युग में अकेला अपने भाव-राज्य के एकान्तवास में विचरण करता था।

पहले-पहल विलायती कवि कालेरिज ने 'हैमलेट' की वास्तविक महत्ता पर प्रकाश डाला। कालेरिज की टिप्पणी पढ़ने पर लोगों को ऐसा मालूम हुआ मानो सहित्य-जगत् में एक नवीन आविष्कार हुआ हो। साहित्यिकों का ध्यान तत्काल इस अनादृत तथापि अमर साहित्यिक रचना पर गया। उसमें उन्होंने अपनी भावुक, आध्यात्मिक वेदना-निपीड़ित आत्मा को सञ्जीवनी प्रदान करनेवाली प्रेरणा प्राप्त की और वे अप्रत्याशित पुलक विह्वल हो उठे। प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति अपनी यातनाओं की तुलना डेनमार्क के भावुक राजकुमार हैमलेट के मार्मिक दुःखों से करके शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा। सारे यूरोप में हैमलेट की धूम मच गई। इसके बाद जब ग्येटे ने अपने 'विल-हेल्म माईस्टर' में उसकी विस्तृत आलोचना करके उसके भावों का समुचित विश्लेषण किया तो उससे प्रेरणा प्राप्त करके सहस्रों लेखक अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उसकी आलोचना करने लगे और करते-करते नहीं थके। प्रत्येक थियेटर में हैमलेट खेला जाने लगा और अपनी-अपनी भावना के अनुसार क्या साहित्यिक, क्या असाहित्यिक सभी उसमें अपूर्व रस, भावलोक का अपूर्व प्रकाश प्राप्त करने लगे। आज 'हैमलेट' की अमरता अविवादास्पद है।

क्यों हैमलेट पाठकों अथवा थियेटर के दर्शकों के हृदयों में ऐसा उन्माद-हर्ष संचारित करता है? यह बात मालूम करने के लिए उसके आख्यान-भाग तथा बाहरी ढाँचे से परिचित होना आवश्यक है। हैमलेट का पिता डेनमार्क का राजा था। उसकी माता और चाचा के षड्यन्त्र से उसकी अनुपस्थिति में उसके पिता की हत्या हो गयी और

पति की मृत्यु के प्रायः एक ही महीने के बाद उसकी माता ने अपने देवर के साथ विवाह कर लिया। हैमलेट न्यायतः राज्य का अधिकारी था, पर उसका चाचा स्वयं राजा बन बैठा। कहना नहीं होगा कि इसमें उसकी माता की रजामन्दी थी। हैमलेट ने जब देखा कि उसके प्यारे पिता की मृत्यु पर शोक करना तो दूर रहा, उसकी माता एक महीना बीतते न बीतते उसके चाचा के साथ वैवाहिक परिणय में आबद्ध होकर खुशियाँ मना रही है तो वह मानव-प्रकृति (विशेषकर स्त्री प्रकृति) की नीचता देखकर घोर विषादाच्छन्न हो जाता है, पर किसी से कुछ नहीं कहता और मन मारकर जी मसोसकर रह जाता है। कहे भी तो किससे कहे! स्वयं माता के आगे सब दुःख प्रगट किये जाते हैं, माता द्वारा प्राप्त दुःख किसके आगे व्यक्त किया जा सकता है! हैमलेट और सारी प्रजा को यह सूचित किया गया था कि साँप काटने से उसके पिता की मृत्यु हुई है, पर हैमलेट के मन में इस सम्बन्ध में विशेष सन्देह था। तथापि यह सन्देह वह किसी के आगे व्यक्त करने में असमर्थ था। अपने घनिष्ठतम मित्र से भी अपनी माता के विरुद्ध किसी प्रकार की शङ्का का उल्लेख नहीं किया जा सकता। इन सब कारणों से उसकी आत्मा रुद्ध वेदना के आवेग से भीतर-ही-भीतर क्षुब्ध हो रही थी। वह अभिजात वंशीय, विचार शील उन्नतात्मा राजकुमार पूर्ण युवावस्था में ही अपने को समस्त विश्व में एकाकी, असहाय और सङ्गीहीन समझने लगा। वह अपने आप कहता है—"हाय, मनुष्य का यह स्थूल मांसपिंड (जिसको लेकर ही संसार में पाप-ताप की यह ज्वाला धधका करती है और जिसके कारण नीच-स्वार्थ की खींचातानी, छीनाझपटी का चक्र निरन्तर जारी है।) पिघलकर ओस-बिन्दु के रूप में परिणत क्यों नहीं हो जाता! (निर्लिप्त तथा सुख-दुःख की चेतना से अतीत क्यों नहीं बन जाता!) अथवा आत्म-हत्या पर सर्वशक्तिमान ने निषेधाज्ञा जारी न की होती! हाय, संसार के सब कारोबार मुझे तुच्छ और झूठे जान पड़ते हैं।……"

इसके बाद अचानक उसे एक दिन अपने अनुचरों द्वारा यह सूचना मिलती है कि उसके पिता की प्रेतात्मा कुछ दिनों से महल के इर्द-गिर्द चक्कर लगा रही है। अत्यन्त उत्तेजित और उत्सुक होकर वह स्वयं उस प्रेतात्मा की प्रतीक्षा में आधी रात के समय स्तब्ध खड़ा रहता है। अकस्मात् वह देखता है कि उसके भूतपूर्व प्यारे पिता छायारूप में प्रकट होकर उसकी ओर उँगली से इङ्गित कर रहे हैं। वह उसकी ओर चलने लगता है। अनुचरगण निषेध करते हैं, पर वह एक की नहीं सुनता और प्रेम-विह्वल तथा उत्कण्ठा चंचल होकर उधर ही को चले चलता है जिस ओर छायामूर्ति उसे ले चलती है। दूर किसी एकान्त कोने में आकर उसके पिता की प्रेतात्मा ठहरकर खड़ी हो जाती है और उससे कहती है कि 'देखो, मैं तुम्हारा स्वर्गीय पिता हूँ। तुम्हारी माता और चाचा ने मिल कर षड्यंत्र रचकर अत्यन्त जघन्य रूप से मेरी हत्या की है। तुम्हारी माता ने मेरे उपवन विहार के अवसर पर मेरे प्रमोद-गृह में आकर निद्रितावस्था में मेरे कानों में तरल विष डाल दिया। अब तुम्हारा कर्तव्य है कि अपने पिता की इस बीभत्स हत्या का बदला लो। अपने इस क्रूरकर्मी चाचा की हत्या करो। जब तक उसकी हत्या न करोगे, मैं (अर्थात् मेरी प्रेतात्मा) नारकीय अग्नि ज्वाला में प्रतिक्षण जलता रहूँगा।"

यह चरम सत्य जब हैमलेट के कर्णगोचर हुआ तो वह विभ्रांत हृदय होकर अत्यन्त व्याकुलता से छटपटाने लगा। इससे उसके संदेह का बहुत कुछ निराकरण हो गया, पर अभी वह इस सम्बन्ध में पूर्ण-तया संतुष्ट नहीं हुआ था। वह अपनी माता और चाचा की प्रत्येक छोटी-से छोटी हरकत पर भी गौर करने लगा। उसने कृत्रिम पागलपन का ढंग अख्तियार कर लिया, ताकि इस तरह उसे यथार्थ तथ्य की जाँच में अधिक सुविधा प्राप्त हो। आफीलिया नाम की एक सरल हृदया नवयुवती के प्रति वह एक बार आकर्षित हुआ था और उसके प्रति अपना प्रेम भी प्रकट कर चुका था, पर प्रेम का प्राथमिक अनुभव

भी होते-न-होते विश्वव्यापी नीचता तथा तुच्छता का कड़वा अनुभव जब उसे हो गया तो आफीलिया के प्रति भी वह एकदम विरक्त हो उठा।

उसकी माता और उसके चाचा निरन्तर इस चेष्टा में थे कि वह स्वस्थ होकर रहे और न अपने मृत पिता का शोच करे और न अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ने की चेष्टा करे। वे नाना उपायों से उसका चित्त बहलाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने आफीलिया को उसे शान्त करने के उद्देश्य से उसके पास भेजा, पर हैमलेट ने उसे अपनी रहस्यमयी बातों द्वारा टाल दिया। तत्पश्चात् राजा और रानी ने कुछ अभिनेता उसके पास भेजे ताकि वे उसकी इच्छानुकूल कोई नाटक खेलकर उसके चित्त का विनोद करें। हैमलेट इस प्रस्ताव से सहमत हो गया। उसे पिता की प्रेतात्मा के कथन की यथार्थता मालूम करने का एक चरम उपाय सूझ पड़ा। उसने नाटक में ठीक वही दृश्य दिखाना चाहा जैसा प्रेतात्मा ने वर्णित किया था। राजा और अपनी माता को भी नाटक के उस खेल में बुलाकर वह यह जानना चाहता था कि वह दृश्य देखकर उनके भावों में कैसा परिवर्तन होता है अन्त को जब नाटक दिखलाया गया तो उसका रहा-सहा सन्देह भी जाता रहा। अब वह इस पशोपेश में पड़ा कि किस प्रकार इस नीच राजा—अपने चाचा की हत्या करे। माता का वह (भले ही वह व्याभिचारिणी हो) जिस कार्य से कष्ट पहुँचे, उसे करने का साहस उसे न होता था। कितनी ही बार वह निश्चय करता था, पर फिर अपनी कोमल प्रकृति के कारण असमञ्जस में पड़ जाता था। कभी वह आत्महत्या करने को सोचता था, कभी माता को समझाता था कि वह इस अनर्थमूलक सम्बंध को त्याग दे। एक बार राजा के बदले आफीलिया के पिता की (जो एक खुशामदी दरबारी था) हत्या कर बैठा। पिता के शोक से आफीलिया पागल होकर मर गयी। बहन की दुर्दशा देखकर उसका भाई उसके साथ लड़ मरा। राजा उसे दावत के बहाने से विष देकर मारना चाहता था,

पर उसकी माता गलती से उस विष को पी बैठी। फिर दूसरी दुर्घटनाओं के बाद बड़ी मुश्किल से वह राजा की हत्या करने में समर्थ हुआ। (शारीरिक शक्ति की अक्षमता के कारण नहीं, नैतिक असमंजस के कारण अपना कर्तव्य समापन्न करने में उसने देर की थी।) अन्त में स्वयं भी मर गया।

शेक्सपीयर का यह नाटक पूर्णतः पाश्चात्य (अर्थात् ग्रीक) भावात्मक है। हम भारतीयों की प्रकृति से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। हमारी नैतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृति, हमारी साहित्य-धारा इससे बिलकुल विपरीत है। पाप-ताप, व्यभिचार तथा प्रतिहिंसा के पीड़न तथा इतने मनुष्यों की हत्या की सम्बन्ध में हमारे किसी नाटककार ने कभी कोई नाटक नहीं लिखा। शान्त, स्निग्ध, निर्विकार विषयों का वर्णन ही हमारे यहाँ की विशेषता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ को शेक्सपीयर से कुछ भी प्रेरणा प्राप्त नहीं हुई है और न उनके हृदय में उनके सम्बन्ध में विशेष उत्सुकता ही पायी जाती है, कालिदास ही उनके गुरु हैं। पर पाश्चात्य साहित्य-रसिकों से पूछिये। उन्मादक प्रेरणा इस नाटक से वे पाते हैं! प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक तथा विवेचक अरिस्टाटल ने लिखा था कि भीति तथा करुणा के दृश्य दिखाकर ट्रेजेडी आत्मा को विशुद्ध तथा परिष्कृत करती है। 'हैमलेट' में 'भीति और करुणा' के भावों की यथेष्टता पायी जाती है, पर इसके अतिरिक्त एक और विशेषता उसमें हम पाते हैं जो अन्यान्य ट्रेजेडियों में कहीं नहीं पाया जाता। उसमें मनुष्य की अनंत-कालिक प्रतिभा की चिरन्तन दुःखलीला दर्शायी गयी है। मेरी यह उक्ति पाठकों को किंचित अबोधगम्य जान पड़ेगी। मैं यह कहना चाहता हूँ कि 'प्रतिभा'-नाम की जो एक आध्यात्मिक आग रहस्यमय प्राकृतिक विधान द्वारा कुछ विशेष पुरुषों के भीतर अदृश्य रूप से प्रतिक्षण शाश्वत की अनिर्वापिता चिता की तरह सुलगती रहती है, उससे मानवमन अत्यन्त अनुभूतिशील तथा वेदनापरायण हो जाता है और प्रति-

पल कल्पनालोक अतीन्द्रिय जगत् में विहरण करने के कारण वास्तविक जगत् के संघर्ष में आकर अत्यंन्त वित्रस्त हो जाता है और पग-पग पर अर्जुन की तरह कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में असमंजस और द्विविधा के फेर में पड़कर अन्त को आत्म-विनाश करने को प्रवृत्त होता है। हैमलेट के चरित्र में प्रतिभा की ये सब विशेषतायें पूर्णरूप में पायी जाती हैं और कवि ने अत्यन्त सुन्दर रूप में दुःख-संशय-निपीड़ित, खण्डित मर्म का खण्ड-खण्ड हमें दिखाया है। शेक्सपीयर ने इस नाटक में जो अपूर्व सफलता पायी है उसका एक कारण यह भी है कि उसने नाटक का पात्र इस उद्देश्य के अत्यन्त अनुकूल चुना है और उसे अत्यन्त उपयुक्त वाह्य-परिस्थिति में लाकर खड़ा किया है ताकि उसकी मानसिक प्रवृत्ति का विकास पूर्णरूप से प्रस्फुटित हो सके। प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति में प्रतिभा का अंश किसी-न-किसी मात्रा में अवश्य वर्तमान रहता है। इसलिए प्रत्येक पाठक हैमलेट की नैतिक तथा अध्यात्मिक वेदना को अपनी ही वेदना समझता है। इस नाटक की अमरता का मुख्य कारण यही है।

—o— १६३२

मानवधर्मी कवि चण्डीदास

चंडीदास साथे धोबिनी सहिते
मिश्रित एकई प्राणो।

—चंडीदास

"चंडीदास और धोबिनी के प्राण एक रूप में मिले हुए हैं।"

राधा-कृष्ण की प्रेम लीला के सम्बन्ध में बङ्गाल के बहुत से वैष्णव कवियों ने सुन्दर, सुललित कोमल-कान्त-पदावलियों की रचना की है। पर इन सब में चंडीदास की विशिष्टता अत्यंत स्पष्ट-रूप में प्रकट हो जाती है। चंडीदास की भाव धारा के प्रवेग से जो व्यक्ति परिचित होगया है, समझ लेना चाहिए कि वह समस्त वङ्ग देश के

मूलप्राण की गति को जान गया है। महाप्रभु चैतन्य से लेकर रवीन्द्र-नाथ, शरच्चन्द्र तक जितने भी महापुरुष आज तक बंगाल में उत्पन्न हुए हैं, सब किसी-न-किसी रूप में चंडीदास की ही मर्म-गाथा से प्राणोदित हुए हैं। इस प्रेमगत-प्राण महाकवि ने स्वर्गीय प्रेम के अनंत रस में अपनी सारी आत्मा को पूर्णतया निमज्जित कर दिया था। प्रेम ही उसके जीवन का मूलमन्त्र था, प्रेम ही उसका जप और प्रेम ही उसका तप था, प्रेम ही उसकी साधना थी और प्रेम ही सिद्धि। इस पागल प्रेमिक ने राधा-कृष्ण की जीवन लीला के वर्णन के बहाने केवल प्रेम-देवता का ही गुणगान गाया है। अपनी पदावली में उसने सर्वत्र 'पिरीति' की ही रट लगायी है—केवल 'पिरीति' 'पिरीति' पिरीति ?'

पिरीति पीरीति कि रीति मूरति हृदय लागल से ।
पराण छाड़िले पिरीति ना छाड़े पिरीति गड़ल के ॥
पिरीति बलिया ए तिन आखर ना जानि आछिल कोथा ।
पिरीति कण्टक हियाय फुटिल पराण-पुतलि यथा ॥
पिरीति पिरीति पिरीति अनल द्विगुण ज्वलिया गेल ।
विषय अनल निवाइल नहे हियाय रहिल शेल ॥

—"प्रीति की मूर्ति न मालूम कैसे मेरे हृदय से आ लगी ! प्राण छूटने पर भी अब यह प्रीति मुझे छोड़ना नहीं चाहती। इस 'प्रीति' की रचना किसने की ? न मालूम 'पिरीति' [प्रीति] नाम के तीन अक्षर (सृष्टि के प्रारम्भ में] कहाँ छिपे थे। प्रीति का कंटक मेरे हृदय के उस मार्मिक स्थान में स्फुटित हुआ जहाँ मेरी प्राण रूपी पुतली विराज रही थी। प्रीति की आग हृदय में द्विगुण वेग से जल उठी। इसकी विषम ज्वाला किसी तरह बुझती नहीं। हृदय में प्रीति का कांटा अभी तक उसी तरह वर्तमान है।"

प्रीति के रस में चंडीदास कैसे तन्मय हो गये थे, उसका परिचय

उनके सैकड़ों पदों से मिलता है। नीचे उदाहरण के बतौर हम एक और पद उद्धृत करते हैं:—

पिरीति नगरे बसति करिब, पिरीते बांधिब घर।
पिरीति देखिया पड़शी करिब, ताबिने सकल पर॥
पिरीति द्वारेर कबाट करिब, पिरीति बांधिब चाल।
पिरीति आस के सदाई थाकिब पिरीते गोगांब काल॥
पिरीति पालङ्के शयन करिब, पिरीति सियान माथे।
पिरीति बालिसे आलिस तजिब, थाकिब पिरीति साथे॥
पिरीति सरसे सिनान करिब, पिरीति अञ्जन लब।
पिरीति धरम, पिरीति करम, पिरीते पराण दिब॥

—"मैं प्रीति नगर में वास करूंगा, प्रीति की नींव पर ही घर खड़ा करूँगा। पड़ोसी से प्रीति का विचार करके सम्बन्ध स्थापित करूँगा, क्योंकि प्रीति के विना सभी पराये हो जाते हैं। प्रीति के द्वारों का ही कपाट लगाऊँगा, और प्रीति की ही छत तैयार करूंगा। प्रीति के पलंग पर प्रीति के तकिये पर सिर रखूँगा। प्रीति के तकिये पर ही आलस्य त्याग करूँगा और प्रीति के साथ रहूँगा। प्रीति-सरोवर में स्नान करूंगा और प्रीति का अञ्जन लगाऊँगा। प्रीति ही मेरा धर्म और प्रीति ही मेरा कर्म रहेगा; प्रीति की खातिर मैं अपने प्राणों को दे डालूँगा।"

इस प्रकार चातक की तरह केवल 'प्रीति, प्रीति' रटकर उस पर मर मिटने वाले इस अद्भुत, असाधारण कवि का जीवन-चक्र भी अद्भुत और असाधारण होगा, इसमें आश्चर्य की क्या बात है! एक साधारण बरेठन से चंडीदास का जो आमरण प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो गया था उसके विमूढ़ रहस्य का मर्म न समझने के कारण समाज के निष्ठुर पेषण-यन्त्र के नीचे उन्हें किस प्रकार निपीड़ित होना पड़ा होगा, इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है। पर अपनी धुन के पक्के इस महापुरुष ने अन्त तक उस प्रेम को अत्यन्त श्रद्धा

और आत्मविश्वास पूर्वक निबाहा। आज हम उसी रसमय प्रेम की कहानी पाठकों को सुनाना चाहते हैं।

चंडीदास का जन्म किस समय और कहाँ हुआ था, इस सम्बन्ध में अभी तक लोगों में मतभेद पाया जाता है, तथापि अधिकांश साहित्य-ऐतिहासिकों का यह मत है कि उनका जन्म चौदहवीं शताब्दी के अन्त अथवा पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वीरभूमि जिले के अन्तर्गत नान्नूर नामक गाँव में हुआ था। यह अनुमान किया जाता है कि चंडीदास के पिता की आर्थिक अवस्था अत्यन्त साधारण थी और वह ग्राम्य देवी 'बाशुली' के पुजारी थे। बचपन में ही चंडीदास माता-पिता से रहित होकर अनाथावस्था को प्राप्त हो गये थे। पैतृक उत्तराधिकारी के रूप में उन्हें बाशुली के मन्दिर का पुजारी पद प्राप्त हुआ। वह आन्तरिक भक्ति और एकान्तनिष्ठा से पूर्वोक्त देवी की आराधना में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। मन्दिर के सारे प्रबन्ध का भार उन्हीं के ऊपर था। वह अपने हाथ से देवी के लिए भोगादि पकाकर दर्शनार्थियों को प्रसाद बाँटा करते और अत्यन्त प्रेमपूर्वक उन लोगों को ज्ञान और भक्ति की बातें सुनाया करते। इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि चंडीदास देखने में अत्यन्त सुन्दर थे। तिस पर उनके हृदय की भावुकता जब उनकी आँखों में स्वप्नवत् विभासित होती तो दर्शकगण मन्त्रमुग्ध होकर उनके सामने खड़े रहते और देवी दर्शन की लालसा भूलकर उन्हीं के दर्शन से अपने को कृतार्थ समझते। विशेष करके नवयुवती स्त्रियाँ उनके प्रति सहज में आकृष्ट होती थीं। पर चंडीदास के मन में कभी किसी युवती के प्रति कुदृष्टि डालने का विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ। वह अपने ही भीतरी रस में तन्मय रहते थे। परन्तु उनके मन की स्थिरता अधिक समय तक स्थायी न रही। मनुष्य के मन के सम्बन्ध में जो लोग कोई निश्चित मत प्रकट करने का दुस्साहस करते हैं वे घोर मूर्ख हैं। इस चिर रहस्यमय मन के भीतर न मालूम कितने युगों के संस्कार, जो बहुत दिनों तक

सुप्तावस्था में अचेत से पड़े रहते हैं, कब किस कारण से उत्तेजित प्रलयकर तूफान मचा बैठते हैं, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। वही शान्त,, धीर चंडीदास, जो सैकड़ों कुलवती, गुणवती, रूपवती स्त्री भक्तों की वंकिम दृष्टि के प्रति अत्यन्त अवज्ञा का भाव दिखाते थे, कौन जानता था कि कुछ ही समय के बाद एक साधारण बरेठन—धोबी की लड़की—उन्हें प्रेमाभिभूत कर देगी।

इस बरेठन का नाम रामी था। चंडीदास द्वारा रचित अनेक पदों में उसका उल्लेख पाया जाता है। चंडीदास ने उसे पहले पहल कहाँ देखा, इस सम्बंध में अन्वेषकगण किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँचे हैं। फिर भी बहुतों का यह मत है कि चंडीदास अपने गाँव से दो-एक कोस दूर तेहाई नामक गाँव में एक नदी के किनारे मछली मारने अथवा प्राकृतिक दृश्य का उपभोग करने जाया करते थे। दोनों प्रथम दिन के दर्शन से ही एक दूसरे को देखकर प्रबल वेग से परस्पर आकर्षित हो गये थे। तब से चंडीदास नित्य उसी घाट के पास बैठकर मछली मारने के बहाने से रामी के दर्शन किया करते। बहुत दिनों तक दोनों में किसी प्रकार का मौखिक वार्तालाप नहीं हुआ, केवल आँखों की नीरव भाषा में ही बातें होती रहीं। बाद को धीरे-धीरे दोनों में हेलमेल बढ़ता गया और घाट से कुछ दूर एक निर्जन स्थान में दोनों पारस्परिक सुख-दुःख की बातें किया करते। बंगाल के प्रायः सभी साहित्यान्वेषकों का मत है कि रामी के साथ चण्डीदास का यह प्रेम अत्यन्त पवित्र और कामगन्धहीन था। इस सम्बन्ध में हम अपना निश्चित मत कुछ भी नहीं दे सकते। पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि रामी से उनका शारीरिक सम्बन्ध रहा हो चाहे न रहा हो, इस प्रेम में हृदय की विशुद्ध रसमयी भावुकता की ही प्रबलता अधिक थी जिसके प्रमाणस्वरूप हम चण्डीदास के कुछ पदों को आगे चलकर उद्धृत करेंगे। कुछ भी हो रामी से उनकी घनिष्ठता दिन-दिन बढ़ती चली गयी, और अन्त को यहाँ तक नौबत आ गयी कि

एक पल एक दूसरे को देखे बिना दोनों के प्राण तड़पने लगते। इधर बाशुली मन्दिर के प्रबन्ध का भार चंडीदास के ऊपर था, इसलिए वह रामी से सब समय मिल नहीं सकते थे। अन्त को रामी ने कपड़े धोने का काम छोड़ दिया और नान्नूर ग्राम में आकर उसने कौशल-पूर्वक बाशुली-मन्दिर के अधिकारियों को किसी तरह राजी कर के मंदिर प्राङ्गण में बुहारी देने का काम प्राप्त कर लिया। इस प्रकार वह सब समय चण्डीदास की आँखों के सामने रहने पाती थी। उसे देख-देखकर चंडीदास अपूर्व प्रेम में उन्मत्त हो-होकर नित्य नये नये पद बनाकर गाते थे। ये पद यद्यपि राधाकृष्ण सम्बन्धी होते थे, पर उनमें रामी के प्रति अन्योक्ति भरी होती थी। प्रत्यक्ष में रामी को सम्बोधित करके भी चण्डीदास ने बहुत से पद रचे हैं; पर यह निश्चय है कि मन्दिर में वे पद नहीं रचे गये—मन्दिर से विताड़ित और जाति से बहिष्कृत होने के बाद ही उन्होंने उन पदों की रचना की थी।

मन्दिर के अधिकारियों ने जब देखा कि एक अस्पृश्य-जातीय युवती से देवी के पुजारी का 'अनुचित' प्रेम-सम्बन्ध चल रहा है तो उन्होंने चंडीदास का घोर अपमान करके उन्हें निकाल दिया। समाज-पतियों ने उन्हें अत्यन्त तिरस्कृत और लांछित करना प्रारम्भ किया। यहाँ तक कि षड्यंत्र रचकर उनके सगे भाई से उन्हें छुड़ा दिया। उनके भाई ने उनसे कहा कि रजकिनी का साथ छोड़ देने से तुम्हें फिर से समाज में ग्रहण करने की चेष्टा मैं कर सकता हूँ। पर चंडीदास तो दीवाने हो गये थे, मधुर प्रेम के अमृत-रस में विभोर थे, उन्हें दीन-दुनिया से क्या काम था! समाज से बहिष्कृत होने के बाद उन्होंने खुल्लमखुल्ला रामी से अपना पवित्र सम्बन्ध स्थापित कर लिया। चंडीदास को समाज से बहिष्कृत करने की जो आवश्यकता समझी गयी, मंदिर से उन्हें निकालने की जो नौबत आ पहुँची, उससे इतना तो स्पष्ट है कि रामी से उनका प्रेम कोरे मौखिक आलाप से आगे बढ़ गया था, पर किस हद तक बढ़ा था, इस संबन्ध में ठीक-

ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, चंडीदास के कुछ पदों से इस बात का पता चलता है कि उनका प्रेम कामगन्धहीन था। पर यह भी सम्भव है कि एक ही कवि एक ही प्रेमिका के सम्बन्ध में विभिन्न समयों में दो विभिन्न भावों का अनुभव कर सकता है। उदाहरण के लिए रवींद्रनाथ ने अपनी 'रात्रे ओ प्रभाते' शीर्षक कविता में यही भाव झलकाया है। उसमें उन्होंने दिखाया है कि रात के समय अपनी प्रेमिका के प्रति उनके मन में कैसा रस-विलासमय भाव वर्तमान था और प्रभात होते ही वह उनके आगे अत्यन्त पवित्र देवी के रूप में विराजमान हुई, जिसके सम्बन्ध में काम की कल्पना ही नहीं की जा सकती—

राते प्रेयसीर रूप धरि, तुमि एसेछो प्राणेश्वरी!
प्राते कखन देवीर वेषे तुमि समुखे उदिले हेसे'!
आमि सम्भ्रम-भरे रयेछि दांड़ाये दूरे अवनत शिरे;
आजि निर्मम वाय शान्त ऊषाय निर्जन नदी तीरे!

—"हे प्राणेश्वरी! रात्रि के समय तुम प्रेयसी का रूप धारण करके मेरे पास उपस्थित हुई थी, पर प्रभात के समय, जब कि निर्मल बयार चल रही है, निर्जन नदी से तट पर से ऊषा का स्निग्धशान्त रूप देखा जा रहा है, तुम मेरे सामने मन्द-मधुर मुसकान से देवी के रूप के आकर प्रकट हुई हो! तुम्हें देखकर श्रद्धा और सम्भ्रम से दूर नत-मस्तक होकर खड़ा हूँ!"

प्रेम का भाव प्रबल होने से प्रेमिक अपनी प्रेमिका को विश्वरूप-मय देखता है। जाति से वहिष्कृत होने के बाद चण्डीदास रामी को उसी रूप में देखने लगे थे। वह रामी को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं—

तुमि रजकिनी आमार रमणी तुम हओ पितृ-मातृ।
त्रिसन्ध्या-याजन तोमारई भजन तुम वेदमाता गायत्री॥

तुमि वाग्वादिनी हरेर घरणी तुम गो गलार हारा।
तुम स्वर्ग-मर्त्य पाताल पर्वत तुमि जे नयनेर तारा॥

—"हे रजकिनी! तुम मेरी स्त्री हो, और मेरे माता-पिता भी तुम्हीं हो। तीनों समय सन्ध्या करते हुए मैं केवल तुम्हारा ही भजन करता हूँ, क्योंकि वेदमाता गायत्री तुम्हीं हो, वाग्वादिनी देवी तुम्हीं हो, तुम्हीं घरकी गृहिणी हो, तुम्हीं मेरे गले का हार हो। स्वर्ग-मर्त्य तुम्हीं हो, पाताल-पर्वत भी तुम्हीं हो और मेरी आँखों का तारा भी तुम्हीं हो।"

संसार-साहित्य का जितना कुछ भी अल्प ज्ञान हमें है उसमें हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि प्रेमिका की ऐसी परिपूर्ण कल्पना, प्रेम की ऐसी तीव्र अनुभूति ऐसी सरल, स्पष्ट भाषा में अब तक कोई भी कवि नहीं कर पाया है। इस विंश शताब्दी में भी—प्रबल सामाजिक तथा धार्मिक क्रान्ति के इस ऐतिहासिक युग में भी—हम देखते हैं कि अस्पृश्य जातीय किसी व्यक्ति से किसी प्रकार का संसर्ग रखने का साहस कितने कम लोगों में है। ऐसी हालत में जब हमें इस बात का परिचय मिलता है कि चौदहवीं शताब्दी के घोरतर कट्टरवाद के युग में एक ग्रामीण ब्राह्मण कवि ने अत्यन्त दर्प के साथ एक अस्पृश्या से अपने प्रेम-सम्बन्ध की स्पष्ट घोषणा करते हुए उस पर गौरव अनुभव किया है तो उसकी प्रतिभा को श्रद्धांजलि अर्पित किये बिना नहीं रहा जाता। प्रतिभा विद्रोहिणी है, वहाँ देशकाल और समाज का कोई बन्धन कभी नहीं मान सकती। धोबिन के सच्चे प्रेम का सम्बंध स्थापित करने में कोई दोष नहीं है, इस परम सत्य का मर्म समझने के लिए, हमें विंश शताब्दी के यूरोपियनों के संसर्ग और उनकी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है—मध्ययुग का एक 'असभ्य' भारतीय कवि की विशुद्ध आत्मा के निर्मल प्रकाश से आलोकित होकर अपने भावुक हृदय में इस सत्य को हृदयङ्गम करने में समर्थ हुआ है!

इस से ब्राह्मण कवि की लोकनिन्दा का बड़ा घटनाओं से विचलित

न कर सका, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। रामी को सम्बोधित करते हुए चण्डीदास ने लिखा है—

कलङ्की वलिया डाके सब लोक ताहाते नाहि दुःख।
तोमार लागिया कलंकेर हार गलाय परिते सुख॥

—"सब लोग मुझे कलङ्की कहकर पुकारते हैं, पर मैं उनकी इस कटूक्ति से दुःखित नहीं हूँ। तुम्हारे कारण कलङ्क का हार भी गले में धारण करने में सुख का अनुभव होता है।" ईसा के काँटों के ताज की तरह यह 'कलङ्क का हार' महामहिम है!

चंडीदास की अलौकिक प्रेरणा पाकर स्वयं रामी भी कविता करने लगी थी। वह भी पद रचना करके चंडीदास के प्रति अपने उद्दाम प्रेम का उद्वेलित प्रवाह व्यक्त किया करती थी। उसके रचित अधिकांश पद यद्यपि लुप्त हो गये हैं, तथापि कुछ पद अभी तक मिलते हैं। उसका एक पद इस प्रकार है—

तुमि दिवाभागे निशा अनुरागे भ्रमो सदा वने वने।
ताहे तव मुख न देखिया दुःख पाई वहु क्षणेक्षणे॥
त्रुटि सम काल मानि सुजञ्जाल युगतुल्य हय ज्ञान।
तोमर विरहे मन स्थिर नहे व्याकुलित हय प्राण॥
कुटिल कुन्तल कत सुनिर्मल श्रीमुखमंडल शोभा।
ओहे प्राणाधिक कि कव अधिक दोष दिये विधातारे॥
तुमि जे आमार आमि हे तोमार सुहृत् के आछे आर।
खेदे रामी कय चंडीदास बिनाजगत् देखि आधार॥

—"तुम दिन-रात वन-वन में फिरते रहते हो। इस कारण तुम्हारा मुख न देख सकने के कारण क्षण-क्षण में मैं बहुत दुःख पाती हूँ! क्षणमात्र युग के समान जान पड़ता है। तुम्हारे विरह से मेरा मन स्थिर नहीं है और प्राण व्याकुल हैं। तुम्हारे घुंघराले बाल और निर्मल मुखमंडल की शोभा देखकर इस बात के लिए दुःख होता है कि इन आँखों में किसने पलकों का निर्माण कर दिया! सब समय

निर्निमेष नयन से तुम्हारा मुख देखते रहने की इच्छा होती है, पर आँखों के पलक मारने के कारण बीच-बीच में दर्शन से वंचित होना पड़ता है। हे प्राणाधिक प्रियतम ! मैं अधिक क्या कहूँ ? विधाता को दोष देकर क्या करूँ। तुम मेरे हो, मैं तुम्हारी हूँ ? और तीसरा कोई हम दोनों का सुहृदय नहीं है, बस। रामी दुःखित होकर कहती है कि चंडीदास के बिना मैं सारा संसार अन्धकारमय देखती हूँ।"

कहा जाता है कि चंडीदास और रामी दोनों 'सहज' मतावलम्बी होकर परकीया धर्म में दीक्षित हो गये थे। रामी अपने को राधा मानकर चंडीदास को कृष्ण के रूप में भजती थी और चंडीदास अपने को कृष्ण मानकर रामी से राधा के रूप में प्रेम सम्बन्ध रखते थे। चंडीदास 'सहज' मतावलम्बी थे, इस बात के बहुत से प्रमाण मिलते हैं। यह मत बौद्धों के प्रभाव बङ्गाल में में किसी समय बड़े जोरों से फैल गया था और इस समय भी बङ्गाल के वैष्णवों का 'सहजिया' सम्प्रदाय बहुत कुछ अंश में उसी मत को मानता चला आता है। इस 'सहज' मत ने धीरे-धीरे विकृत रूप धारण करके बंगाल में व्यभिचार की उद्दाम तरंग प्रवाहित कर दी थी।

महात्मा बुद्ध के कठिन नीति-मूलक धर्म की शुष्कता से जब बौद्ध स प्रभाव उकता गया तो उसमें धीरे-धीरे अत्यधिक नीति निष्ठा की प्रतिक्रिया स्वरूप नाना रहस्यमय तत्वों का विचार प्रवेश करने लगा। हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान का जो आन्दोलन चल रहा था उसके संसर्ग में आकर वे लोग देवी-देताओं को भी मानने लगे। बौद्ध धर्म की विभिन्न शाखायें प्रस्फुटित होती जाती थीं। इन्हीं शाखाओं में से एक सहजिया सम्प्रदाय भी था। चंडीदास जिस बाशुली देवी के मन्दिर के पुजारी थे वह सहजिया सम्प्रदाय की देवी नित्या पीठस्थों की सोलह सह-चारियों में अन्यतम मानी जाती थीं। यह बाशुली मंगल चंडी के नाम से भी पुकारी जाती थी। आज दिन चंडी की पूजा बंगाल में तथा भारत के अन्यान्य प्रदेशों में बड़े समारोह से होती है, वह प्रायः बौद्धों

की ही देवी थी। राजा धर्मपाल के समय बौद्धों में 'महासुखवाद' नामक एक मत प्रवर्तित हुआ था। सहजिया पंथी इसी मत को मानते थे। उनका विश्वास था कि आनन्द-प्राप्ति ही निर्वाण का उद्देश्य है इसलिए शारीरिक सुख-साधन ही निर्वाण-मार्ग है। आठवीं शताब्दी में लुईपाद ने इस धर्म का प्रचार किया था। उसका मत था कि स्त्री स भोग से जो सुख प्राप्त होता है वही सब सुखों से श्रेष्ठ है, अतएव जात-पात का कोई ख्याल न करके स्त्रियों के साथ यथेच्छ विहरण करना चाहिए। बाद को हिन्दू-धर्म में जिन तान्त्रिक मत की प्रतिष्ठा हुई उसे इसी सहजिया धर्म से प्रेरणा मिली थी। इस सहज मत के प्रचार से बौद्ध भिक्षु जिस घोर अनाचार के घृणित पङ्क में निमज्जित हो गये थे उसका वर्णन करने में हम अपने को असमर्थ समझते हैं।

पर चंडीदास ने इस देहात्मवादी, 'आनन्दानुगामी' मत को अपनी अन्तर्प्रतिभा की प्रेरणा से अपने निजी सांचे में ढालकर उसे एक नया ही रूप दे दिया था, जो आत्मोन्मादी और पवित्र था! बाद में महाप्रभु चैतन्य को भी चण्डीदास के इस हृदयहारी अभिनव प्रेम-मार्ग से प्रेरणा मिली थी।

चण्डीदास ने लिखा है कि बाशुली के आदेश से ही उन्होंने पर-कीयाधर्म का आश्रय लेकर रजकिनी रामी के साथ प्रीति का सम्बंध स्थापित किया, अर्थात् रामी को राधा और अपने को कृष्ण मानकर वह प्रेम की अनन्त तरङ्ग में भासमान होने लगे—

रति परकीया जाहारे कहिया सेइ से आरोप सार।
भजन तोमारि रजक झियारि रामिणी नाम जाहार॥

—"परकीया रति का आश्रय ग्रहण करके तुम्हें रामिणी नाम की धरेटन का भजन करना होगा।"

यह पहले ही कहा जा चुका है रामी (या रामिणी) के प्रति चण्डीदास का प्रेम सम्बध देहगत था या नहीं, यह अनिश्चित है। 'सहज'-मतावलम्बी देहात्मवादी थे, और चण्डीदास ने स्वीकार किया

निर्निमेष नयन से तुम्हारा मुख देखते रहने की इच्छा होती है, पर आँखों के पलक मारने के कारण बीच-बीच में दर्शन से वंचित होना पड़ता है। हे प्राणाधिक प्रियतम! मैं अधिक क्या कहूँ? विधाता को दोष देकर क्या करूँ। तुम मेरे हो, मैं तुम्हारी हूँ? और तीसरा कोई हम दोनों का सुहृदय नहीं है, बस। रामी दुःखित होकर कहती है कि चंडीदास के बिना मैं सारा संसार अन्धकारमय देखती हूँ।"

कहा जाता है कि चंडीदास और रामी दोनों 'सहज' मतावलम्बी होकर परकीया धर्म में दीक्षित हो गये थे। रामी अपने को राधा मानकर चंडीदास को कृष्ण के रूप में भजती थी और चंडीदास अपने को कृष्ण मानकर रामी से राधा के रूप में प्रेम सम्बन्ध रखते थे। चंडीदास 'सहज' मतावलम्बी थे, इस बात के बहुत से प्रमाण मिलते हैं। यह मत बौद्धों के प्रभाव बङ्गाल से में किसी समय बड़े जोरों से फैल गया था और इस समय भी बङ्गाल के वैष्णवों की 'सहजिया' सम्प्रदाय बहुत कुछ अंश में उसी मत को मानता चला आता है। इस 'सहज' मत ने धीरे-धीरे विकृत रूप धारण करके बंगाल में व्यभिचार की उद्दाम तरंग प्रवाहित कर दी थी।

महात्मा बुद्ध के कठिन नीति-मूलक धर्म की शुष्कता से जब बौद्ध सम्प्रदाय उकता गया तो उसमें धीरे-धीरे अत्यधिक नीति निष्ठा की प्रतिक्रिया स्वरूप नाना रसमय तत्वों का विचार प्रवेश करने लगा। हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान का जो आन्दोलन चल रहा था उसके संसर्ग में आकर वे लोग देवी-देताओं को भी मानने लगे? बौद्ध धर्म की विभिन्न शाखायें प्रस्फुटित होती जाती थीं। इन्हीं शाखाओं में से एक सहजिया सम्प्रदाय भी था। चंडीदास जिस बाशुली देवी के मन्दिर के पुजारी थे वह सहजिया सम्प्रदाय की देवी नित्या षोडशी की सोलह सहचरियों में अन्यतम मानी जाती थी। यह बाशुली मंगल चंडी के नाम से भी पुकारी जाती थी। आज दिन चंडी की पूजा बंगाल में तथा भारत के अन्यान्य प्रदेशों में बड़े समारोह से होती है, यह मूलतः बौद्धों

प्रेम के ध्यान में निमग्न रहेंगे। शृङ्गार-रस ही इस धर्म का साधन रहेगा।" इससे सन्देह होता है कि शरीर सम्बन्धी शृंगार-रस भी इस प्रेम का साधन था।

इस प्रकार के पदों से यह प्रकट होता है कि सम्भवतः चण्डीदास के प्रेम में शरीर का सम्बन्ध था, तथापि उन्होंने उस शारीरिक प्रेम को उन्मादिनी भावुकता के रस से ऐसा उन्नत रूप दे दिया था कि वह दूसरे रूप में कामगन्ध से रहित था। यह बात पाठकों को अवश्य ही पहेली की तरह आत्म-विरोधी मालूम पड़ेगी। पर यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो यह आसानी से समझ में आ सकती है। संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों की जीवनियों से पता चलता है कि उन्होंने अपने जीवन में किसी-न-किसी स्त्री के प्रति उन्मादक प्रेम का अनुभव अवश्य किया है, और उसी प्रेम की तीव्र अनुभूति से प्रेरित होकर वे अमर रचनायें लिखकर छोड़ गये हैं। यदि उनका प्रेम केवल काम-जनित और इन्द्रिय-सम्बन्धी होता तो उनकी आत्माओं से उसके सम्बन्ध में अपूर्व रसपूर्ण मार्मिक उद्‌गार कदापि व्यक्त न होते। साथ ही यह भी कहना मूर्खता का परिचायक होगा कि उनका प्रेम एकदम अतीन्द्रिय था। चण्डीदास के सम्बन्ध में किसी अंश तक यही बात कही जा सकती है। पर चण्डीदास के प्रेम में यह विशेषता थी कि इन्द्रिय-संबंध रहते हुए भी यह अन्यान्य कवियों की अपेक्षा अतीन्द्रिय की ओर अधिक झुका हुआ था। हम पहले ही लिख चुके हैं कि हम अनुमान से ऐसा लिख रहे हैं। क्योंकि यह भी सम्भव हो सकता है कि चण्डीदास का यह प्रेम इन्द्रिय-सम्बन्ध से एकदम वर्जित रहकर केवल आध्यात्मिक तथा उन्नत मानसिक रति में ही सीमित रहा है। क्योंकि वैष्णव कवियों ने राग-रति और काम-रति में विशेष अन्तर रखा है। बाह्य लक्षण एक होने पर भी दोनों में विशेष विभिन्नता बतलायी है।

समाज ने चण्डीदास को बहिष्कृत कर दिया, इससे उनको दुख

है कि उन्होंने उसी मत का अनुसरण किया है। पर संबंध चाहे जैसा भी रहा हो, इतना तो निश्चित है कि चण्डीदास ने इस इन्द्रिय-सम्बन्धी प्रेम को अत्यन्त उन्नत रूप दे दिया था। पर उसका यथार्थ रूप क्या था, इस प्रश्न की मीमांसा अत्यन्त जटिल है। कहीं-कहीं पर चण्डीदास कहते हैं कि उसमें कामगंध नहीं है—

एक निवेदन करि पुनः पुनः शुनो रजकिनी रामी।
युगल चरण शीतल देखिया शरण लइमान आमि॥
रजकनी रूप किशोरी स्वरूप कामगंध नाहि ताय।
ना देखिले मन करे उचाटन देखिले पराण जुड़ाय॥

"हे रजकिन रामी! मैं तुम से बार-बार निवेदन करता हूँ कि तुम्हारे चरण-युगल को शीतल समझकर मैंने उनकी शरण पकड़ी है। तुम्हारा रूप किशोरी-स्वरूप है, उसमें कामगन्ध नहीं है, उसे न देखने से प्राण अस्थिर रहते हैं और देखने से शान्ति मिलती है।"

परन्तु इसके विपरीत एक दूसरे पद में वह लिखते हैं:—

कहिछे रजकिनी रामी शुनो चंडीदास तुमि
निश्चय मरम कहि जाने।
वाशुली कहिछे जाहा सत्य करि मानो ताहा
वस्तु आछे देह वर्तमाने॥
आमि तो आश्रय हई विषय तोमारे कई
रमणकालेते गुरु तुमि।
आमार स्वभाव मन तोमार रति-ध्यान
तेईं से तोमाय गुरु मानि॥
साधन शृङ्गार रस इहाते हइबे वश—इत्यादि

—"रजकिनी रामी कहती है—चंडीदास सुनो, मैं मर्म की बात कहती हूँ। वाशुली का कथन है—शरीर की उपस्थिति में ही वास्तविक सत्य वर्तमान रहता है। मैं आश्रय हूँ और तुम विषय। प्रेम में मग्न होने के समय में तुम्हीं मेरे गुरु हो। मेरा स्वभाव और मन तुम्हारे

प्रेम के ध्यान में निमग्न रहेंगे। शृङ्गार-रस ही इस धर्म का साधन रहेगा।" इससे सन्देह होता है कि शरीर सम्बन्धी शृंगार-रस भी इस प्रेम का साधन था।

इस प्रकार के पदों से यह प्रकट होता है कि सम्भवतः चण्डीदास के प्रेम में शरीर का सम्बन्ध था, तथापि उन्होंने उस शारीरिक प्रेम को उन्मादिनी भावुकता के रस से ऐसा उन्नत रूप दे दिया था कि वह दूसरे रूप में कामगन्ध से रहित था। वह बात पाठकों को अवश्य ही पहेली की तरह आत्म-विरोधी मालूम पड़ेगी। पर यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो यह आसानी से समझ में आ सकती है। संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों की जीवनियों से पता चलता है कि उन्होंने अपने जीवन में किसी-न-किसी स्त्री के प्रति उन्मादक प्रेम का अनुभव अवश्य किया है, और उसी प्रेम की तीव्र अनुभूति से प्रेरित होकर वे अमर रचनायें लिखकर छोड़ गये हैं। यदि उनका प्रेम केवल काम-जनित और इन्द्रिय-सम्बन्धी होता तो उनकी आत्माओं से उसके सम्बन्ध में अपूर्व रसपूर्ण मार्मिक उद्गार कदापि व्यक्त न होते। साथ ही यह भी कहना मूर्खता का परिचायक होगा कि उनका प्रेम एकदम अतीन्द्रिय था। चण्डीदास के सम्बन्ध में किसी अंश तक यही बात कही जा सकती है। पर चण्डीदास के प्रेम में यह विशेषता थी कि इन्द्रिय-संबंध रहते हुए भी यह अन्यान्य कवियों की अपेक्षा अतीन्द्रिय की ओर अधिक झुका हुआ था। हम पहले ही लिख चुके हैं कि हम अनुमान से ऐसा लिख रहे हैं। क्योंकि यह भी सम्भव हो सकता है कि चण्डीदास का यह प्रेम इन्द्रिय-सम्बन्ध से एकदम वर्जित रहकर केवल आध्यात्मिक तथा उन्नत मानसिक रति में ही सीमित रहा है। क्योंकि वैष्णव कवियों ने राग-रति और काम-रति में विशेष अन्तर रखा है। बाह्य लक्षण एक होने पर भी दोनों में विशेष विभिन्नता बतलायी है।

समाज ने चण्डीदास को बहिष्कृत कर दिया, इससे उनको दुख

नहीं हुआ। पर उनके कारण उनके कुटुम्बी जनों के हाथ का खान-पान भी छूट गया। उनका भाई (जिसे उन्होंने नकुल के नाम से उल्लिखित किया है) रोकर उनके पैरों पर गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगा कि तुम धोबन का सङ्ग त्याग दो, नहीं तो सारा कुल कलंकित हो रहा है। इस पर—

शुनि चण्डीदास छाड़िया निश्वास
भिजिया नयन जले।
धोबिनी सहित आमि जेन ताथे
उद्धार हइबो कुले॥

—"चण्डीदास नकुल की प्रार्थना सुनकर लम्बी सांस लेकर अश्रुपूर्ण स्वर में बोले कि मैं धोबन को साथ लेकर ही कुल में गृहीत होना चाहता हूँ—अकेले प्रवेश करना नहीं चाहता।"

पर नकुल न माना। वह समाजपतियों के आदेश से चण्डीदास के प्रायश्चित के लिये उनकी इच्छा के विरुद्ध तैयारियाँ करने लगा। नाना प्रकार के पक्वान्न तैयार किये गये और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को निमन्त्रण दिया गया। इधर चण्डीदास 'पिरीति पीरीति' की रट लगाते रहे—

पिरीति शाति पिरीति जाति, पिरीति कुटुम्ब हय।
पिरीति स्वभाव, पिरीति विभव, पिरीति एमन वय॥

रामी को बड़ा डर था कि नकुल चंडीदास का अत्यन्त प्रेमपात्र होने से कहीं सचमुच उसे उनके हाथ से छुड़ाकर उन्हें समाज में न ले ले। इसलिए एक दिन नदी के किनारे नकुल के साथ स्नान के समय भेंट होने पर उससे हाथ जोड़ कर अश्रुवर्षण करते हुए कहा—हे ठाकुर नकुल! तुम यह क्या आयोजन कर रहे हो?—

तोमार चरित्रे जगत् पवित्र
तोमार साधु जे वाद।

तुमि से सकल जाते पाते तोलो,
नीच प्रेमे उनमाद ॥
वर्णाश्रम छार पिरीति के हद्
जाहार पिरीति हय। इत्यादि

"तुम्हारे चरित्र से जगत् पवित्र है. तुम साधुवादी पुरुष हो; तिस पर भी तुम जात-पांत की विचार करते हो! प्रेम के आगे वर्णाश्रम का बन्धन कोई चीज नहीं है?" नकुल के सामने तो रामी ने इस प्रकार तेजपूर्ण दृढ़ता से चंडीदास के प्रायश्चित का विरोध किया, पर घर आकर रो-रोकर व्याकुल हो उठी। इसके बाद मौलसिरी के पेड़ के नीचे आकर दिन-रात नितान्त असहायावस्था में आँसू गिराती रही। उसे इस दशा में देखकर नकुल को भी रुलाई आ गयी। धोबन ने बार बार आहें भर कर आवेश पूर्वक नकुल को समझाया और कहा—"चंडीदास साथे धोबिन सहिते मिश्रित एकई प्राणे।" अर्थात्—'चंडीदास के प्राणों के साथ मेरे प्राण एक ही रूप में मिश्रित हैं," उन्हें अलग करने की चेष्टा करने से अनर्थ हो जायगा। नकुल यद्यपि धोबन की इस सच्ची लगन से पिघल गया, पर वह लाचार था, समाज का घोर अत्याचार सहन करने में वह असमर्थ था।

अन्त को एक दिन सामाजिक भोज का विराट् आयोजन हुआ। सब समाजपति निमन्त्रित थे। नकुल के हठ से बाध्य होकर चंडीदास बाह्य-प्रायश्चित के बाद ब्राह्मणों को अपने हाथ से भोजन परोसने लगे, यद्यपि वह मन-ही-मन 'रामा-रामी-रामी' 'पिरीति-पिरीति-पिरीति!' रट रहे थे। वह भोजन परोस ही रहे थे कि रामी यह समाचार पाकर पागलों की तरह वहाँ दौड़ी आयी और चंडीदास के सामने आकर खड़ी हो गया। उसका अश्रुसिक्त सुन्दर मुखमंडल देखते ही चंडीदास ने प्रेम-गद्गद् होकर परोसना छोड़कर दंडधारी सामाजिक नेताओं को भरी सभा में उसे गले से लगा लिया। दोनों के प्रेम-गद्गद् आंखों से टप-टप आँसू गिरने लगे—

एमन पिरीत कभु देखि नाईं शुनि ।
पराणे पराण बाँधा आपना आपनि ॥
दुहुँ कोड़े दुहुँ कांदे बिच्छेद भाविया ।
तिल आधे ना देखिले जाय जे मरिया ॥
जल बिनु मीन जेन कबहुँ ना जांये ।
मानुष एमन प्रेम कोथा ना शुनिये ॥
कुसुमे मधुर कहि मे नहे तूल ।
ना आइले भ्रमर आपनि ना जाय फूल ॥
कि छार चकोर-चाँद दुहुँ सम नहे ।
त्रिभुवने हेन नाईं चंडीदास कहे ॥

"ऐसी प्रीति न कभी किसी ने देखी, न सुनी । अपने आप दोनों के प्राण परस्पर जड़ित हो गये हैं । दोनों परस्पर आलिङ्गन-पूर्वक विच्छेद की भावना से रोते हैं । पल भी यदि एक दूसरे को नहीं देखता तो प्राण खो बैठता है; जैसे जल के बिना मछली नहीं जी सकती । ऐसे प्रेम का मर्म किसी मनुष्य ने पहले कहीं सुना था । कुसुम और भौंरे की तुलना इन दोनों के प्रेम से नहीं दी जा सकती, क्योंकि भ्रमर के न आने से फूल स्वयं उसके पास उड़कर कभी नहीं जाता । पर यहाँ तो यह बात नहीं है (स्वयं रामी विरह-यन्त्रणा से व्याकुल होकर चंडीदास के पास आकर दौड़ती है ।) चकोर और चन्द्र की तुलना भी उनके लिए अत्यन्त तुच्छ है । चण्डीदास कहते हैं कि त्रिभुवन में कहीं ऐसा (प्राणस्पर्शी सुदृढ़ स्थायी प्रेम) वर्तमान नहीं है ।"

सच्चे प्रेम की जय एक न एक दिन होकर ही रहती है । समाज के अधिष्ठाताओं ने जब देख कि नाना रूपों से तिरस्कृत, लांछित और निपीड़ित होने पर भी दोनों अपने प्रेम में अटल हैं वे भी उस अजर,अमर प्रेम की महत्ता को स्वीकार करने लगे और अस्पृश्या घोबन भी अन्त को स्पृश्या मानी गयी और समाज में ग्रहण की गयी !—

धोबिन दांड़ाया द्विजपाने चाया पिरीति पिरीति भजे,
द्विजगण डाके व्यञ्जन आनिते धोबिनी तखन धाय!

"धोबिन भोजन करने वाले ब्राह्मणों की ओर देखकर केवल 'प्रीति प्रीति' रट रही है। ब्राह्मणों ने उसे खाना परोसने के लिये कहा और वह प्रेमपूर्वक दौड़ती हुई गयी!"

हरिजनों के उद्धार के विरुद्ध इस विंश शताब्दी के कट्टरपन्थी कैसा विद्रोह खड़ा कर रहे हैं, यह सभी को विदित है, पर चंडीदास की महान् प्रेमात्मा की महिमा ने चौदहवीं शताब्दी के उत्कट विद्रोहियों को अपने वश में करके एक अस्पृश्या को भी ब्राह्मणों के साथ समान अधिकार पर प्रतिष्ठित करने के लिये प्रेरित कर दिया! सच्चे प्रेम और सच्ची लगन की कसौटी यहीं पर है।

चण्डीदास अपने युग के महान् क्रान्तिकारी और रिफार्मर थे। उनका धर्म मनुष्य धर्म था। बाशुली देवी के पुजारी होने पर भी वह देवी-देवताओं को केवल रूपक के बतौर मानते थे। राधा कृष्ण उनके लिये देवी-देवता के बतौर नहीं थे -उन्हें वह प्रेम-देवता के द्विविध स्वरूप के बतौर मानते थे। उनके लिए उनकी धरेठन राधा से किसी अंश में कुछ कम नहीं थी—बल्कि वही उसकी असली राधा थी। राधा और कृष्ण के नाम पर उन्होंने जितने भी पद रचे हैं वे सब रामी के प्रति अपने प्रेम के विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिये अन्योक्ति के तौर पर लिखे गये हैं।

अंत को मानव धर्म के सम्बन्ध में चण्डीदास की महावाणी को उद्धृत करके हम इस प्रेमामृत कथा को समाप्त करते हैं:—

शुनो रे मानुष भाई!
सबार उपरे मानुष सत्य
ताहार उपरे नाईं!

"हे मनुष्य भाई, सुनो! सबके ऊपर मनुष्य सत्य है, उसके परे कोई नहीं है।"

कामायनी

वर्तमान हिन्दी साहित्य-जगत् में प्रथम बार एक ऐसा काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जो विश्व-काव्य कहे जाने की विशिष्टता रखता है। मेरी इस उक्ति से साहित्यालोचकगण कहीं भ्रम में न पड़ जायँ। मेरा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में आज तक जितनी भी कविता-पुस्तकें निकली हैं, वे विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य नहीं हैं, बल्कि मेरी धारणा ठीक इसके विपरीत है। मेरा यह ध्रुव विश्वास है कि हिन्दी के कुछ विशिष्ट कवियों की अनेकानेक स्फुट कविताएँ इतनी उच्चकोटि की हैं कि वे विश्व-साहित्य के किसी भी युग की सर्वश्रेष्ठ कविताओं से टक्कर ले सकती हैं। पर साथ ही इस बात पर भी जोर देना चाहता हूँ कि हमारे वर्तमान साहित्य में अभी तक एक भी काव्य ऐसा नहीं रचा गया था जो वास्तव में विश्व-काव्य कहा जा सके। विश्व-काव्य से मेरा आशय ऐसे काव्य से है जो आरम्भ से अन्त तक एक केन्द्रगत मूल विषय पर लिखे जाने के साथ ही इस विराट् विश्व के अन्तरतम प्रदेश में निहित चिरन्तर रहस्य की चिर-विकासोन्मुखी सर्जना के आलोड़न-विलोड़न तथा संघर्ष-विघर्षमय चक्र प्रगति की अभिव्यंजना से सम्बन्धित हो। पाश्चात्य साहित्य में इस प्रकार के काव्यों तथा नाट्य-ग्रन्थों की कमी नहीं है, पर हमारे यहाँ अभी तक इसका अभाव अखर रहा था। प्रसाद जी की 'कामायनी ने इस अभाव को गहन भावों की अजस्र रसधारा से भर दिया है।

हिन्दी में महाकाव्य तथा खण्डकाव्यों की कमी नहीं है, पर हम एक तुलसीदास की रामायण को छोड़कर और किसी भी ऐसे काव्य को विश्व-साहित्य के पारखियों के आगे पेश नहीं कर सकते थे, जिसके सम्बन्ध में हम गर्व के साथ यह दावा कर सकते कि उसमें भी इस विश्वकुहर के 'इन्द्रजाल' का मायावी 'पट कला की अतर्विदारिणी तथा मर्म भेदिनी छुरिका से आर पार चीर डाला गया है। अथवा

महत्व उनके लिए नहीं है और न वे इस विषय पर रचे गए काव्य-ग्रन्थ को श्रेष्ठ कला का निदर्शन मान सकते हैं। यदि प्रसादजी की 'कामायनी' का अविकल प्रतिरूप उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में प्रकाशित होता तो वे विश्व-साहित्य के शीर्षस्थानीय कलाकारों में निर्विवाद रूप से स्थान पा जाते। पर 'कामायनी' १९३७ में प्रकाशित हुई है, जब कि महायुद्ध के बाद की प्रतिक्रियात्मक विचारधारा की पंकिलता विश्व के सभी राष्ट्रों में स्तूपीकृत हो उठी है और उसकी सड़ांयद भारत में भी बुरी तरह फैला है। हमारे यहाँ उच्चकोटि की कला की सच्ची परख का एक तो योंही अभाव है, तिस पर साम्यवाद के नाम पर फैली हुई दुर्गन्धित विचारधारा 'प्रगतिशीलता' के वेष में आकर हमारे वर्तमान साहित्य की उस नयी मनोवृत्ति को उसकी जागृति की प्रारम्भिक अवस्था में कुचल डालने के लिए दुर्धर्ष वेग से उद्यत हो रही है जो कला रसज्ञता काव्य-मर्मज्ञता तथा प्रकृति के मूल में अवस्थित अमर सौंदर्य की अनुभूति की प्रेरणा का संचार करने लगी थी।

एक बात और है। अधीरता तथा अस्थिरता के इस युग में, जीवन के सब क्षेत्रों में समय समय पर क्षणिक मनो विनोद की उत्तेजक घूँटों द्वारा संघर्षमय वास्तविक जीवन की कटुता को भूलने की आकांक्षा पाई जाती है (इस आकांक्षा का एक प्रतिफलित रूप सिनेमा है) और लोग किसी भी विषय पर धैर्य तथा अध्यवसाय द्वारा मनन करने का कष्ट उठाने के लिए तैयार नहीं है, और छोटी छोटी कहानियों तथा छोटी छोटी कविताओं की माँग पत्र-साहित्य में बहुत बढ़ रहा है। ऐसी हालत में, जब कि किसी बड़ी खंड कविता को देखकर ही लोग घबरा उठते हैं, 'कामायनी' जैसे बृहत् काव्य को, जिसमें आकार की दीर्घता के साथ ही रसों तथा भावों की गहनता भी भरी पड़ी हो, पूर्ण अध्ययनपूर्वक पढ़ने का कष्ट कितने 'प्रगतिपन्थी' उठाने को तैयार होंगे, यह प्रश्न भी विचारणीय है।

पर इन सब निराशाजनक कारणों से 'कामायनी' का महत्व न घटकर वृहत्तर तथा महत्तर रूप में प्रकट होता है। असल बात यह है कि शताब्दी चाहे उन्नीसवीं हो, चाहे बीसवीं, चाहे इक्कीसवीं, किसी विशेष युग की विचार-धारा समुन्नत, 'मिस्टिक' तथा रूपकात्मक कला के लिए चाहे कैसी ही प्रतिकूल तथा प्रतिक्रियात्मक हो, इससे उसके मर्म में निहित चिरन्तन सत्य पर तनिक भी आंच नहीं आ सकती। वह सदा सूर्य की तरह प्रोज्वल रहेगी, युग का प्रकोप उसे श्रावण के मेघों की तरह भले ही कुछ काल के लिए निबिड़ रूप से आच्छादित कर दे।

इतनी भूमिका लिखने का मेरा एक उद्देश्य है। 'कामायनी' की विश्लेषणात्मक आलोचन के पहले मैं यह घोषित करने की परम आवश्यकता महसूस करता हूँ कि 'कामायनी' का प्रकाशन हिन्दी काव्य-साहित्य के इतिहास में कितनी महत्वपूर्ण घटना है। साथ ही यह भी दिखाना मैंने उचित समझा है कि किन प्रतिक्रियात्मक तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में 'कामायिनी' का जन्म हुआ है; क्योंकि ये परिस्थितियाँ किसी भी उच्चकोटि की कलात्मक रचना के लिए क्षय रोग के अदृश्य किन्तु प्राणशोषी कीटाणुओं की तरह घातक सिद्ध हो रही है।

'कामायनी' के रहस्यमय, रूपकात्मक रंग-मञ्च का उद्घाटन एक वैचित्र्यपूर्ण तथा अपूर्व रोमांचकर नाटकीय वातावरण में होता है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार इस विश्व में मानवी सृष्टि के पहले देव संस्कृति की घोर अहम्मन्यता के दारुण दमन का प्रबल प्रकोप दिक्‌दिगन्तर में प्रतिध्वनित हो रहा था। निःसीम अहंभाव का यह अप्रतिहत अनाचार, अनवरत आत्मतोषण की यह आकण्ठ उच्छ्वलित परिपूर्णता मूल प्रकृति के अनादि नियमों के प्रतिकूल है। इसलिए देवों ने आत्म-विलास की चरितार्थता के लिए जिस स्वर्ग-संसार का निर्माण किया था वह रुद्र के अवरुद्ध रोष से भीषण प्रलय-प्रवाह में

बह चला। इस निखिल लयकारी जल प्लावन में मनु की नौका दुस्तर वेग का अतिक्रमण करती हुई उत्तर की ओर चली गई और अन्त में प्लावन का प्रवेग उतार में आने पर हिमवान पर्वत पर आ लगी। यहाँ पर से 'कामायनी' का आख्यान प्रारम्भ होता है:—

हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छांह।
एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय-प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतना।
दूर-दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान।
नीरवता सी शिला-चरण से टकराता फिरता पवमान।
तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुर-श्मशान,
नीचे प्रलय-सिन्धु लहरों का होता था सकरुण अवसान।

इस प्रकार नीचे प्रलय जल और ऊपर दूर विस्तृत हिमानी की स्तब्धता के मध्य में बैठा हुआ वह तरुण तपस्वी अपने विलासोन्मत्त भूतकालिक जीवन की मोहान्धता प्रलय-प्रवाहित वर्तमान जीवन की लोमहर्षक शून्यता तथा अन्धकारमय भावी जीवन की रहस्यमयी अनिश्चितता पर विचार कर रहा था। अपनी चिन्ता को सम्बोधित करते हुए वह कहता है:—

ओ चिन्ता की पहली रेखा; अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली!
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल-लेखा;
हरी भरी सा दौड़ धूप ओ, जल-माया की चल-रेखा!
इस ग्रह कक्षा की हलचल री, तरल गरल की लघु-लहरी;
जरा अमर जीवन की, और न कुछ सुनने वाली बहरी!
अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी; अरी आधि! मधुमय अभिशाप!

इत्यादि पंक्तियों के एक विशेष गतिशील छन्द-प्रवाह द्वारा एक

ऐसा अपूर्व वातावरण कवि हमारी अन्तरिन्द्रिय के सम्मुख उपस्थित करता है जो इस नाट्यात्मक काव्य के अन्तःरहस्य की सांकेतिक सूचना प्रारम्भ से ही हमको देने लगता है।

आगे की पंक्तियों से मनु का जो जो तत्कालीन मनोद्वेग व्यक्त होता है वह हमारी आँखों के आगे एक ऐसा मायामय दृश्यपट खड़ा करता है जो और भी अधिक सूचनात्मक है। पंक्तियाँ इतनी सुन्दर हैं कि नमूने के तौर पर कुछ को यहाँ पर उद्धृत करने का लोभ संभाला नहीं जा सकता:—

मणिदीपों के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य !
देव-दम्भ के महामेध में सब कुछ बन गया हविष्य।

अरे अमरता के चमकीले पुतले ! तेरे ये जयनाद।
कांप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बन कर मानों दीन विषाद।
वह उन्मत्त विलास हुआ क्या ? स्वप्न रहा या छलना थी !
देव सृष्टि की सुख-विभावरी ताराओं की कलना थी।
चलते थे सुरभित अंचल से, जीवन के मधुमय निःश्वास !
कोलाहल में मुखरित होता देव-जाति का सुख विश्वास।
कीर्ति, दीप्ति शोभा थी नचती, अरुण किरण-सी चारों ओर।
सप्त सिंधु के तरल कणों में द्रुम दल में आनन्द-विभोर।
सुख, केवल सुख का वह संग्रह केन्द्रीभूत हुआ इतना—
छाया-पथ में नव-तुषार का सघन मिलन होता जितना।
भरी वासना सरिता क वह कैसा था मदमत्त-प्रवाह !
प्रलय जलधि में संगम जिसका देख हृदय था उठा कराह।

इन पंक्तियों को हमने केवल उनकी सुन्दरता के लिए ही उद्धृत नहीं किया है। इनका महत्त्व इस बात पर भी है कि मनु के इस मर्मान्तक मानसोद्गार से सृष्टि में क्रान्ति की एक एक निश्चित धारा का सूत्रपात हुआ और मनुष्य अपना मनोवैज्ञानिक विषमता के जिस संघर्ष

विघर्षमय चक्र संघूर्णन से प्रपीड़ित है उसका मूल कारण भी मनु की पूर्वोल्लिखित चिन्ताधारा ही है। अखण्ड-ऐश्वर्य सम्भोग के अप्रतिहत आत्मोल्लास में, तरल अनल की अविरल प्रज्वलता की तरह, चिन्ता की धूम्ररेखा का लेश भी नहीं रह सकता। देवलोक में वेदना की अनुभूति अणु-परमाणु में भी वर्त्तमान न रहने से अमिश्रित सुख का निरन्तर पुँजीभूत तुषार संघात सृष्टि की छाती पर पाषाण भार की तरह पड़ा हुआ था। अपनी 'स्वर्ग हइते विदाय' कविता में रवीन्द्रनाथ ने इस निर्वेदन सुख के सम्बन्ध में कहा है:—

शोकहीन
हृदयहीन, सुखस्वर्गभूमि, उदासीन
चेये आछे। अश्वत्थ-शाखार
प्रान्त हते खसि गेले जीर्णतम पाता
जतटुकु बाजे तार, ततटुकु व्यथा
स्वर्गे नाहि लागे, जबे मोरा शतशत
गृहच्युत हतज्योति नक्षत्रेर मतो
मुहूर्त्ते खसिया पड़ि देवलोक हते
धरित्रीर अन्तहीन जन्ममृत्यु स्रोते

[सुखस्वर्गभूमि शोकहीन, हृदयहीन तथा उदासीन होकर देख रही है। अश्वत्थ की शाखा से जब एक जीर्ण पत्ता भी नीचे गिरता है तो वह जितना पीड़ित होता है उतनी व्यथा भी स्वर्ग में कोई अनुभव नहीं करता—जब हम लोग गृहच्युत, हतज्योति नक्षत्रों के समान एक मुहूर्त्त में स्वर्ग से गिरकर धरित्री के अनन्त जन्म-मृत्यु स्रोत में बहने लगते हैं !]

इस निर्विचित्र तथा निश्चल पाषाणता के प्रति जब सृष्टि की अन्तरात्मा में विद्रोह का अन्तर्नाद उपस्थित हुआ तो उसके फल-स्वरूप मनु के हृदय से जो मर्मोद्‌गार निर्गत हुआ उसी ने मानवात्मा की चिरन्तर वेदनामयी अनुभूति की प्रथम सूचना दी। इस वेदना बोध

से यद्यपि मानव प्राण प्रतिपल व्यस्त-विध्वस्त, प्रपीड़ित तथा उद्वेलित है, तथापि उसकी सजल गतिशील । पतित-पावनी जाह्नवी की निरन्तर-प्रवाहित पुण्य धारा की तरह उसकी स्थूलता को क्षालित करती हुई उसके अणु-अणु में मंगलरूपी वैचित्र्य-शालिनी कविता का पुलक-प्लावन 'हिल्लोलित' करती रहती है—

नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान ।
व्यथा से नीली लहरों बीज,
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान ।

इसलिए मानव-जीवन की ट्रेजेडी का कारण उसकी वेदनात्मक अनुभूति नहीं है । इसका मूल कारण है मनुष्य में अवशिष्ट देवत्व का संस्कार । मनु देवताओं से बिछुड़ने तथा मन में उनके प्रति विद्रोह का भाव रखने पर भी अपने देव-संस्कारों को समूल उखाड़ नहीं सके थे, और देवों से एक पूर्णतः विभिन्न (अर्थात् मानवी) सृष्टि की आकांक्षा मन में रखते हुए भी आत्म-विलास की स्वार्थमयी वासना का दम्भाभास उनकी आत्मा में वर्तमान था । इसलिये श्रद्धा के संयोग से उनके अन्तस्तल में सुख दुःख मयी वेदनानुभूति का अनन्त वैचित्र्यपूर्ण पुलक-प्रवाह तरंगित होने पर भी वह निखिल मंगलकारिणी आनन्दधारा में निर्मुक्त वेग से, अबाध गति से अपने को प्रवाहित नही कर पाए । आत्म-तृप्ति की ऐकान्तिक संकीर्णता का वासनावरोध उन्हें अपनी मानवी प्रजा के सार्वजनिक कल्याण के प्रति उदासीन बना कर उनके भीतर केवल अपनेपन के निरन्तर वर्धि सुख की चरितार्थता की स्वार्थान्ध आकांक्षा के सर्वभक्ष अनल को उद्दीपित करता चला गया ।

एक, ओर अहंभाव के संकीर्ण कुण्ड का प्रज्वलित प्रदाह और दूसरी ओर निखिल विश्व में प्रेम-विस्तार की करुण वेदनाशील कामना की निर्मुक्त उड़ान—मनु की इन दो द्वन्द्वात्मक अनुभूतियों

का संस्कार उनकी मानव-सन्तान में भी पूर्ण मात्रा में वर्तमान पाया जाता है।

महाकवि गेटे के विश्व-विख्यात रूपकात्मक नाट्य काव्य 'फौस्ट' की आलोचना करते हुए कार्लाइल ने एक स्थान पर फौस्ट की अशान्ति के मूल कारण का वर्णन करते हुए लिखा है—

'फौस्ट समझता है कि वह संसार के अन्यान्य मानव-प्राणियों के साथ होने पर भी उनमें से नहीं है। (अर्थात् उनमें उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।) दर्प तथा अनियन्त्रित किन्तु गुप्त आत्म-प्रेम उसके चरित्र की गति के प्रधान उत्स हैं। ज्ञान का आदर वह इसलिए करता है कि उसे वह शक्ति का मूल सूत्र मानता है, परमार्थ से वह इसलिए प्रेम करता है कि वह उसे भी एक उच्चकोटि की इन्द्रियपरायणता समझता है, और साथ ही यह अनुभव करता है कि वह उसकी निजी अनुभूति है। इस प्रकार की प्रकृति का मनुष्य चाहे कहीं जाय, वह फिर-फिर अपने को एक आपेक्षिक जगत् में पायेगा। वह अपनी अनुभूति के क्षेत्र को चाहे किसी परिमाण में विस्तृत करे किन्तु फिर-फिर वह उसे अभाव के साम्राज्य से घिरा हुआ पायेगा। उसकी मानसी सृष्टि का आनन्दोज्वल द्वीप फिर जीवन निशीथ के चिर-पुरातन अन्धकार-राज्य का एक तुच्छतम खंड-सा जान पड़ेगा।"

देवत्व से छिन्न मनु की अशान्त, अधीर तथा अस्थिर मानसिकता चिरन्तर मानव की इसी व्याकुलता का रूपक है, जिसका चित्रण गेटे ने फौस्ट के चरित्र में किया है। फौस्ट की आत्मा में देवत्व के संस्कार समधिक रूप में वर्तमान थे और वह विश्व की सब विभूतियों को केवल अपनी अनियन्त्रित आत्म-तृप्ति के साधन के रूप से प्राप्त करना चाहता था। पर चूंकि वह देव नहीं, मनुष्य था, इसलिए अनेक रूपों में सुख-साधनों से भरपूर होने पर भी वह अपनी आत्मा में एक विश्व-ग्रासी अभाव की महाशून्यता का अनुभव किया करता था। प्रकृति ने मनुष्य को इस विराट् अभाव को भरने के लिए एक अमोघ साधन

प्रदान किया है। वह है सर्वभूतों में अपने को और अपने में सर्वभूतों को निमज्जित करने की अनुभूति का अनुशीलन। पर मनु और फौस्ट ने (जो मानव प्रतिभा के विकास की प्रखरता के रूपक-स्वरूप हैं) इस परम तत्व को नहीं समझा। मनु के परम संकट-काल में उन्हें श्रद्धा मिल गई थी, जिसकी निखिल मगलकारिणी स्नेह रस-धारा की पावन सरसता पाकर वह जीवन के गहन-वन में आलोक की सुगम पथ-रेखा देख सकते थे। पर वह ऐसे मोहान्ध हो गये थे कि श्रद्धा से भी अपने ऐकान्तिक सुख की स्वार्थमयी साधना की सहायता चाहने लगे। श्रद्धा मनु को बार बार समझाती रही कि—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा!
सुख को सीमित कर अपने में केवल दुख छोड़ोगे।
इतर प्राणियों की पीड़ा लख अपना मुँह मोड़ोगे।
ये मुद्रित कलियां दल में सब सौरभ बन्दी कर लें।
सरस न हों मकरन्द बिन्दु से खुल कर तो ये मर लें।
सुख अपने सन्तोष के लिए संग्रह-मूल नहीं है।
उसमें एक प्रदर्शन जिसको देखें अन्य, वही है।

पर मनु की आँखें नहीं खुलीं। वह निखिल प्रकृति के मूल रहस्य के केन्द्र-बिन्दु में अपने को स्थिर रखकर अपनी मंगलमयी प्रतिभा के पराग की सुरभि समस्त विश्व में विकीरित करना नहीं चाहते थे। वह अनन्त जीवन के अनन्त वैचित्र्य का रस लोभी भ्रमर की तरह पान करके आत्मोन्नति की स्वार्थमयी सुख-साधना के उद्देश्य से निरन्तर प्रगतिशीलता के पथ में आन्दोलित रहना चाहते थे—

स्थिर मुक्ति प्रतिष्ठा में वैसी चाहता नहीं इस जीवन की!
मैं तो अबाध-गति मरुत सदृश हूँ चाह रहा अपने मन की।
जो चूम चला जाता अग-जग, प्रति पग में कंपन की तरंग—
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।

टेनिसन के युलिसीज़ की तरह वह जीवन-रस की अशान्त, अतृप्त, ज्वालामयी अभिलाषा के दुरतिक्रम्य मरीचिका-पथ में आगे, आगे और आगे बढ़े चले जाना चाहते हैं। यह अनन्त पिपासामयी आकांक्षा आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता की स्वार्थान्ध कर्मोन्मत्तता जनित रक्तशोषी तृषा का उपयुक्त रूपक है। इस प्रकार की मोह-लालसा का स्वाभाविक परिणाम निखिलग्रासी काल-रात्रि के विकराल अंधकार का आवाहन है। कार्लाइल-वर्णित एनशेन्ट रियल्म आफ नाइट (अंधकारमयी मोहनिशा का चिर पुरातन साम्राज्य इस प्रकार की अकल्याणी दुराशा को घेरे बिना नहीं रह सकता। मनु भी इस घनाच्छन्न तामसिकता की भयंकरता का अनुभव किए बिना नहीं रह सकते—

जीवन निशीथ के अन्धकार !
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिन्दी बह रही चूम कर सब दिगन्त
मन शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनंत
कुहुकिन, अपलकदृग के अंजन ! हंसती तुझ में सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव कलना
इस चिर प्रवास श्यामल पथ में छाई पिक प्राणों की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार

श्रद्धा—कल्याणीया कामायनी—की अनन्त करुणामयी, अविरल स्नेह रसमयी, विपुल विश्व समयी मंगल अभिषेकमयी, स्निग्ध शान्ति मयी प्रीति के सलज तथा सजल उपहार को ठुकराकर जब वह उच्छृं-खल तथा उद्दाम आकांक्षा की मोह तरंग में बहने लगे तो अपनी मानव-प्रजा-सृष्टि के लिए उन्होंने चिरकालीन अभिशाप प्राप्त किया। इस अज्ञात तथा रहस्यमय अभिशाप के पीड़न का अनुभव क्या मानव-जाति प्राचीनतम युग से वर्तमान समय तक नहीं करती आई है ?

नाना द्वन्द्व, संघर्ष, विश्रृंखला, असामञ्जस्य, वैमनस्य तथा विरोध के चक्रजाल से मानव संसार ऐसा जकड़ा हुआ है कि यहाँ सँभलता है तो वहाँ उलझता है। मिल्टन ने भी अपने 'पैरेडाइज़ लास्ट' में आदम और हौवा के लालसासक्ति-जनित पतन से सारे मानव समाज पर जो अभिशाप आरोपित करवाया है उसका भी मूल कारण आदि-मानव-प्रकृति की मोहान्धता ही है।

इस अभिशाप के वज्रकोप में जब मनु स्तब्ध तथा विभ्रांत अवस्था में निश्चल बैठे रहे तो अकस्मात एक ज्योतिर्मयी प्रतिमा सी हेमवती छाया उनकी आँखों के आगे भासमान हुई। निखिलव्यापी तमोजाल की जड़ता में अरुण किरणों की कलित कांति से चैतन्य का स्फुरण करने वाली वह सञ्जीवित प्रतिमा थी इड़ा, जो मूर्तिमती बुद्धि थी। श्रद्धा के विसर्जन के साथ ही सरल मधुर विश्वास सरस प्रेम तथा शुभ्र स्निग्ध समवेदना के भावों को तिलाञ्जलि देकर मनु इड़ा के बुद्धि वैभव को पूर्णतया अपनाकर विज्ञान की अशेष कर्ममयी, विपुल चक्रमयी, प्रचण्ड संघूर्णमयी ज्वाला को गले की माला बनाकर उसकी लपटों को दिग्दिगन्त विकीरित करने के महा-समारोह में अत्यन्त उल्लासपूर्वक लग गये। विज्ञान प्रणोदित वह सर्वशोषी, अतृप्त कर्मतृष्णा की आग जहाँ एक ओर आत्मप्रसूत भस्म-राशि को स्तूपीकृत करके जड़-जगत् के भौतिक वैभव का निर्माण करती है, वहाँ मानव-जगत् की मंगलमयी पुण्य पीयूषधारा का स्रोत एकदम सुखा देती है। मनु के जीवन में इस ज्वाला का वही स्वाभाविक परिणाम सिद्ध होकर रहा।

पौराणिक आख्यान में इड़ा को मनु की यज्ञ-जनित दुहिता कहा गया है।। रूपक की दृष्टि से इड़ा—अर्थात् बुद्धि—मनुष्य की आत्मज विभूति है जिसकी उत्पत्ति उसकी चिर-जिज्ञासु मनोवृत्ति की अज्ञात अन्तर्मन्थना द्वारा हुई है। यदि इस परम शक्तिशालिनी विभूति को निःस्वार्थ तथा अनासक्त भाव से अपनाकर, हृदय के सरस तथा

रूप बदलते रहते वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती !
तरल अग्नि की दौड़ लगी है सबके भीतर,
गल कर बहते हिम-नग सरिता लीला रच कर।
जीवन में अभिशाप शाप में ताप भरा है,
इस विनाश में सृष्टिकुञ्ज हो रहा हरा है,
मैं चिर-बन्धन हीन मृत्यु-सीमा उल्लघन
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।
महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना।

इन विचारधारा की आत्मविनाशी तरङ्ग में बहकर मनु विद्रोही प्रजा के क्रूर सहार में रत हो जाते हैं।

इस प्रकार सारा आख्यान आधुनिक बुद्धिवादी सभ्यता के कुटिल चक्र से अत्यन्त सुन्दर रूपक के रूप में हमारे सामने आता है, यद्यपि यह कवि का गौण उद्देश्य है, क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य तो मानव-जाति का चिरन्तर सघर्ष विघर्षमयी वेदना की मूल भावधारा का परिप्लावित प्रवाह प्रदर्शित करके उसे शाश्वत मङ्गल की ओर प्रेरित करना है।' कोरी बुद्धि द्वारा प्रसूत वर्तमान जड़वादात्मक विज्ञान ने मानव समाज को शतधा विच्छिन्न तथा विभक्त करके उसमें नाना संघर्षों तथा द्वन्द्वों की अशान्ति उत्पन्न कर दी है। प्रभुत्ववादियों की [illegible]स भयकर वैज्ञानिक मनोवृत्ति ने साधारण जन-समूहों में विद्रोह के [illegible]ाव भर दि हैं, पर नियमानुशासन चलानेवाले उच्छृङ्खल डिक्टे-[illegible]रगण स्वयं किसी नियम का नियन्त्रण मानने को तैयार न होकर [illegible]रों ओर दमन, अत्याचार तथा रक्तपात का चक्र चला रहे हैं। इस [illegible]तरराष्ट्रीय अशांति तथा विश्वव्यापी भूल-भ्रांति के दूरीकरण का [illegible]ल एक ही सच्चा उपाय है—बुद्धि और श्रद्धा का सुमङ्गल सहयोग। [illegible]ल मातृ-हृदय के करुण-कोमल समवेदनात्मक तथा श्रद्धा विश्वास-

के भीषण चक्रजाल का यथार्थ निदर्शन करता है और साथ ही हमें इस सर्वनाशी विषमता के परे उठकर समरसता के पुण्य प्रकाश का अमर पथ प्रदर्शित कराता है।

यदि आदर्श पर विचार न कर कोरी कला की दृष्टि से हम इस रचना को देखें तो भी उसकी श्रेष्ठता में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। प्रसाद जी इस काव्य में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र अपने उन्नततम तथा चरम रूप में व्यक्त हुए हैं। भाव, भाषा तथा छन्द सङ्गीत की अपूर्व मनोरमता, नाटकीय निपुणता तथा सुसंयत सामञ्जस्य के सम्मिलित चमत्कार ने कामायनी में जादू की माया का-सा प्रभाव दिखाया है। प्रसाद जी की अन्य सब कृतियाँ यदि किसी कारण से विलीन हो जायें (भगवान न करे कभी ऐसा हो) और केवल 'कामायनी' रह जाय तो भी वह चिरकाल तक हिन्दी जगत में—बल्कि विश्व-साहित्य संसार में—अमर होकर रहेंगे, यह बात बिना किसी द्विविधा, के कही जा सकती है।

१६३७

शरत्चन्द्र की प्रतिभा

शरत्चन्द्र के प्राणावेग की तीव्रता का ही यह फल है कि साहित्य जगत में प्रवेश करते ही उन्होंने जनता की प्राण-धारा को अत्यन्त प्रबलता से आंदोलन कर दिया। जिस द्रुत गति से शरत्चन्द्र ने लोकप्रियता प्राप्त की वह अभूतपूर्व था। वर्तमान युग में भारत के अन्य किसी भी श्रेष्ठ कलाकार को अपनी पहली ही रचना से साहित्य में शीर्ष स्थान प्राप्त कर लेने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। जब मैं शरत् बाबू से प्रायः सत्रह वर्ष पहले पहली बार मिला था तो उन्होंने मुझसे कहा था कि जब उनकी 'रामेर सुमति' शीर्षक कहानी 'यमुना' नामक एक अत्यन्त साधारण सामयिक पत्रिका में छपी थी तो उस

समय उक्त पत्रिका के केवल पचास ग्राहक थे। उस कहानी के छपते ही दूसरे ही महीने उसके पाँच सौ ग्राहक हो गये, और उस विशेष अङ्क की, जिसमें उनकी कहानी छपी थी, ऐसी माँग हुई कि 'यमुना' के अध्यक्ष को उसे फिर से छापना पड़ा। शरत् बाबू ने सपरिहास मुझ से कहा कि इस प्रकार वह बायरन की तरह एक विशेष रात में सो कर जब प्रातःकाल उठे तो उन्होंने सारे बंगाल में अपने को प्रसिद्ध हुआ पाया।

मैं मानता हूँ कि लोक-प्रियता ही किसी कलाकार की श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं हो सकती और अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार या तो अपने जीवन के अन्तिम काल में या अपनी मृत्यु के बाद मान्य हुए हैं। पर शरत्चन्द्र की लोकप्रियता के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रारम्भ में किस श्रेणी की जनता ने उन्हें वरण किया। 'यमुना' के जो पाँच सौ ग्राहक हुए उनमें से अधिकांश व्यक्ति सुरुचि सम्पन्न साहित्यिक थे, यह बात मैंने शरत् बाबू के ही मुँह से सुना है। उन साहित्यिकों के प्रचार के फल-स्वरूप साधारण जन भी शरत्चन्द्र की मायावी कला का रस ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो उठे और उन्होंने अपनी बुद्धि की पहुँच तथा भावना की गति के अनुसार उसमें एक ऐसी विशेषता पाई जो उन्हें अपूर्व तथा अनिर्वचनीय-सी लगी। साधारणतः जनता को वही रचनाएं अधिक प्रियकर लगती हैं जिनमें या तो लोमहर्षक घटनाओं का वर्णन हो या स्त्री-पुरुष सम्बन्धी अनाचारों की उच्छृङ्खल क्रीड़ा का लोल-लीला-लास्य नग्नरूप में चित्रित किया गया हो। पर शरत्चन्द्र की लोकप्रियता की नींव जिन दो प्राथमिक छोटी-छोटी रचनाओं ('रामेर सुमति' तथा 'बिन्दुर छेले') द्वारा प्रतिष्ठित हुई है, उनमें ये दोनों बातें लेश-परिमाण में भी वर्तमान नहीं हैं। इन दोनों कहानियों में शरत्चन्द्र ने नारी-हृदय की अत्यन्त सुकुमार तथा सकरुण मातृवेदना को जीवन के नाना आघात-प्रतिघात, तथा संघर्ष-विघर्ष के बीच और नाना प्रतिक्रियाओं के वैपरीत्य तथा वैमनस्य

के ऊपर ऐसे अदृश्य तथा अजानित रूप में विजय प्राप्त करते हुए दिखाया है कि पाषाण प्राण भी इस मायावी कलाकार की लेखनी के मर्मस्पर्श से शत-शत अश्रुधाराओं के रूप में उच्छ्वासित होकर फूट न पड़े यह सम्भव नहीं। इन्हीं दो कहानियों में नहीं इसके बाद लिखी गई 'मेजदीदी,' 'बड़दीदी' 'निष्कृति' आदि कहानियों में भी हम शरत्चन्द्र की अनुभूति प्रवणता की वही अन्तरःस्पर्शी सहृदयता, वही सूक्ष्मतम संवेदन-शीलता तथा वही विचक्षण मर्मज्ञता पाते हैं। इन सब कहानियों में शरतचन्द्र ने कठोर वास्तविकता से ताड़ित जिस कमनीय आदर्श के पावन आलोक की करुण किरणों का विकीरण किया है, उसका जन-समाज में सहजप्रिय तथा आदरणीय बन जाना कोई साधारण बात नहीं है।

अङ्गरेजी में जिसे रियलिस्टिक आर्ट कहते हैं शरत्चन्द्र ने उसके महत्व को स्वीकार किया है। पर उसी को कला का चरम रूप नहीं माना है। जीवन की कठोर वास्तविकता की अवज्ञा उन्होंने कभी नहीं की है और स्वाभाविकता के वह सदा कट्टर अनुयायी रहे हैं, पर "कला केवल कला के लिए है" इस गहन तत्वयुक्त नीति के बहु-प्रचलित विकृत अर्थ का अनुसरण उन्होंने कभी नहीं किया है। उन्होंने पूर्वोक्त रचनाओं में वास्तविकता की नींव पर सहज स्वाभाविक और साथ ही अज्ञात रूप से जिन कोमल कमनीय तथा स्निग्ध-मधुर आदर्शों की स्थापना की है वे चिर-कल्याणोन्मुख शाश्वत मानव मन को अदृश्य चुम्बक-शक्ति से बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। शरत्चन्द्र की पूर्व लिखित कहानियों के नायक-नायिकाओं में आत्म-विरोधी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व अत्यन्त उत्कट रूप से चलता है और वे अपने मन के उलटे-सीधे चक्रों के जटिल जाल में बड़ी बुरी तरह जकड़े रहते हैं। तथापि उन सब की द्वन्द्वात्मक जटिलता के भीतर तरल स्नेह की एक सहज सरलता परिपूर्ण सामंजस्य के साथ विराजमान रहती है। उदाहरण के लिए 'रामेर सुमति' का राम बाहर से

अत्यन्त दुष्ट-प्रकृति और उजड्ड स्वभाव दिखाई देने पर भी उसके अन्तस्तल में निश्कलुष स्नेह की ऐसी अन्तःसलिल धारा छिपी हुई है जिसे या तो नारायणी अपनी सहज सहृदयता की अन्तर्प्रेरणा से देख सकता है या स्वयं कहानीकर अपनी मार्मिक अनुभूति से। 'बिन्दुर छेले' के नायक-नायिकाओं के बीच इन्हीं आत्मावरोधी प्रवृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष से वैमनस्य की पंकिलता मथित होते रहने पर भी उनके अतर्प्रदेश में छिपे हुए पुण्य प्रेम की पावन धार उस पंकिलता को क्षालित कर देती है। 'मेजदादी' (मँझली बहन) में पितृ मातृ-हीन मरभुखा लड़का केष्टो जब अनाथावस्था में अपनी सगी बहन के पास जाने पर बहन द्वारा अत्यन्त कटु शब्दों से विताड़ित किया जाता है तो बहन की देवरानी का सहृदय स्नेह पाकर, उसे मातृस्थानीया मानकर 'मँझली दीदी' कहकर पुकारने लगता है। मझली दीदी इस अनाथ बालक को सच्चे हृदय से प्यार करने पर भी अपने पति, जेठ और जेठानी (केष्टो की सगी बहन) के निरन्तर विरोध से उस के प्रति अवज्ञा का भाव दिखाने लगती है और केष्टो को अपने यहाँ आने से मना कर देती है। पर जब देखती है कि उस निरीह बालक के प्रति ससार और समाज का अत्याचार बढ़ता चला जाता है तो वह रह नहीं सकती और अन्त में सारे परिवार के प्रति विद्रोह घोषित कर के केष्टो को साथ लेकर अपने मायके चले जाने को तैयार होती है। उसका दृढ़ निश्चय देखकर पति गिड़गिड़ा कर उससे क्षमा-याचना करके दोनों को अपने घर वापस ले जाता है। बड़ी 'दीदी' में सांसारिक व्यवहार से निपट अनभिज्ञ, अन्यमनस्क स्वभाव छल कपट-रहित एक ग्रेजुएट जन्तु का एक युवती विधवा के प्रति विचित्र रहस्यमय स्नेह दिखाया गया है। विधवा माधवी पर्दे की आड़ में रहकर इस जन्तु को (जो उसकी आठ नौ साल की बहन को पढ़ाया करता है) एक नादान शिशु की तरह मान कर उसके प्रति स्नेह का वही भाव रखती है, जो अपनी छोटी बहन के प्रति। पर एक बार जब वह जन्तु सामाजिक

आचार-विचार के प्रति अपनी निरी अज्ञानता के कारण पर्दे की कुछ परवा न कर भीतर जाकर 'बड़ी बहन!' कह कर माधवी को पुकारता है तो माधवी संकुचित और त्रस्त होकर कड़े शब्दों में अपनी छोटी बहन से कहती है कि अपने मास्टर को बाहर ले जाये! इसके बाद वह 'जन्तु' उस घर को छोड़कर किस प्रकार कलकत्ता की सड़कों में भटकता है और गाड़ी से दबकर अस्पताल में किस प्रकार 'बड़ी बहन!' 'बड़ी बहन!' कहकर विकारग्रस्त अवस्था में कराहता है और माधवी के मन में उसके प्रति कैसी सकरुण और सुकुमार संवेदना उमड़ पड़ती है और अंत में किस प्रकार अत्यंत मार्मिक परिस्थिति में दोनों का पुनर्मिलन होता है। इन सब घटनाओं का वर्णन जिस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा सहृदय संवेदन के साथ लेखक ने किया है, यह वर्णनातीत है। 'वैकुंटेर उइल' में दो भाइयों के विचित्र मनोभावों का चित्रण करते हुए दिखाया गया है कि बड़े भाई के बाहर से अत्यन्त रुक्ष-प्रकृति, कठोर स्वभाव तथा लंठ मालूम पड़ने पर भी भीतर ही भीतर विह्वल भावोद्वेग से उसका हृदय सदा तरङ्गित रहता है, वाहर से अत्यन्त स्वार्थी और अपने छोटे भाई के प्रति अत्यन्त अत्याचार परायण मालूम पड़ने पर भी जी जान से उसे चाहता है और उसके लिए सर्वस्व त्याग करने के लिये तत्पर रहता है। 'निष्कृति' में दिखाया गया है कि एक सम्मिलित परिवार में सब भाई कमाते हैं पर सब से छोटा भाई निकम्मा है। मंझले भाई के सिखाने से ज्येष्ठ भ्राता इस निकम्मे भाई को सब अधिकारों से वञ्चित करने के उद्देश्य से घर जाता है, पर अपनी सहज अंतःकरण तथा स्वाभाविक स्नेहभाव के कारण अपनी अज्ञात चेतना की प्रेरणा से उसको सब से अधिक उपकृत कर आता है। इसी ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी निकम्मे भाई की पत्नी को सब समय तिरस्कृत करती रहती है, पर उसका अंतर-चेतना उस पर सर्वस्व न्यौछावर करने के लिये तैयार रहता है।

मैंने शरत्चन्द्र से एक बार 'चेखोव' की कला का विश्लेषण करते हुए कहा था कि ऐसा सच्चा कलाकार मैंने अपने जीवन में कोई नहीं पाया। शरत्चन्द्र ने मेरी बात का पूर्ण समर्थन किया, पर साथ ही कहा—'भारतीय सभ्यता का आदर्श कुछ दूसरा ही है। निरथक सत्य को हमारे यहाँ कभी विशेष महत्व नहीं दिया गया। हमारे यहाँ कल्याण और मंगल की भावना को सर्वदा उच्च स्थान दिया गया है; इसलिए जिस सत्य की पृष्टभूमि में यह भावना न हो, उसके प्रति मेरे मन मे कभी आदर का भाव नहीं रहा है। मैने कला को कभी क्रीड़ा-कौतुक के रूप में नहीं देखा है। मै उसे मनुष्य के जीवन की चरम साधना के रूप में मानता आया हूँ।

पूर्व वर्णित रचनाओं द्वारा शरत्चन्द्र साहित्य-क्षेत्र में यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे; सन्देह नहीं। पर जिन रचनाओं द्वारा उनका जयघोष दुन्दुभि-निनाद के साथ देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रतिध्वनित हो उठा, वे बाद में प्रकाशित हुई थीं। वे रचनाएँ हैं—'देवदास', 'चरित्रहीन' तथा 'श्रीकांत'। इन रचनाओं में शरत्चन्द्र ने अपनी प्रदीप्त प्रतिभा के ज्वलत आलोक से सामाजिक विधि-निषेधों से विजड़ित वैयक्तिक आत्मा के भीतर स्वतन्त्रता तथा विद्रोह की वह आग भड़का दी जिनकी लपटें दावाग्नि की तरह थोड़े ही समय में सर्वत्र फैल गईं। समाज के कुटिल चक्र के प्रति असतोष तथा आत्म स्वातन्त्र्य की आकांक्षा का अस्पष्ट भाव समाज के प्रत्येक वैयक्तिक प्राणों के भीतर वर्तमान था, शरत्चन्द्र ने अपनी उद्दाम आवेगमयी, अप्रतिहत गतिमयी, मर्म-प्रवेशिनी प्राणशक्ति की विस्फूर्जना से उक्त भाव को वैप्लविक रूप से उद्वेलित कर दिया। समाज के बद्ध वातावरण के विषमय आक्रोश द्वारा पीड़ित प्रत्येक आत्मा उन्मुक्त विचार धारा के इस परिप्लावित तरंग-प्रवाह में बहकर अपने को निर्मुक्त और निर्बन्ध समझ कर तरंगायमान हो उठी।

'देवदास' ने जन साधारण में जितना आदर पाया है; कला-

पारखियों की विवेचना में भी वह उसी परिमाण में खरा उतरा है। 'नाविक के तीरों' की तरह गंभीर घाव करनेवाली इस विशिष्ट रचना को जो स्थायी प्रभाव पाठकों के मन पर पड़ता है, उसके अन्तर्गत कारण का अन्वेषण करने पर हम उसके नायक और नायिका के मूल चरित्रों का विश्लेषण करते हैं तो पार्वती के चरित्र के गम्भीर जलधि के ऊपर देवदास का चरित्र एक वेगशील तरग की तरह द्रुतगति से प्रवाहमान मालूम पड़ता है। किसी दार्शनिक ने कहा है, कि नारी प्रकृति सदा केन्द्रानुग सेन्ट्रीपेटल), चिर-स्थिर तथा चिर-संरक्षणशील (कंजरवेटिव) होती है और पुरुष-प्रकृति सदा केन्द्रातिग (सेंट्रिफ्यूगल चिर चचल तथा चिर-परिवर्तनशील होती है। शरत्चन्द्र की तीनों श्रेष्ट रचनाओं (देवदास' 'चरित्रहीन' तथा 'श्रीकांत') के नायक-नायिकाओं के चरित्र चित्रण में हमें नारी प्रकृति तथा पुरुष प्रकृति की इन दोनों विशेषताओं को चरम रूप में प्रस्फुटित पाते हैं। यदि शरत्चन्द्र के स्त्री चरित्रों में वह अतलस्पर्शी गाम्भीर्य, वह चिर संरक्षणशील स्थैर्य, वह अनन्तकालीन मूक, मौन, अटल, धैर्य न होता जैसा कि हम उनमें पाते हैं, तो उनके सब पुरुष-चरित्र हवाई बुद्बुदों की तरह अथवा वात विताड़ित मेघ खण्डों की तरह छिन्नाधार होकर शून्य में विलीन होते हुए दिखाई देते। देवदास एक पतित, दुर्बल और क्षीण इच्छाशक्ति सम्पन्न सहृदय प्राणी है; शरत् के प्रायः सभी प्रधान-चरित्रों के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि उसकी आत्मा के अनेक वाह्य स्तरों को लंघित करके उसके अन्तर प्रदेश में यदि कोई प्रवेश कर सके तो वहाँ अवश्य ही महत् प्रेम का एक अव्यक्त बीज पाया जायगा; और यही उसके भ्रष्ट चरित्र का उन्नायक तत्व है, जिसे अंगरेजी में 'रिडीमिंग फीचर' कहते हैं इससे अधिक उसमें हम कुछ नहीं पाते। पर पार्वती के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। उसके चरित्र विश्लेषण से ऐसा मालूम होने लगता है जैसे वह जन्म से ही जीवन

कल्याणकारी करुणा, उसकी मातृवेदना उसके सतीत्व से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी देखी गई हैं जिनका किसी दूसरे पुरुष से कभी किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक सम्बन्ध नहीं रहा है तथापि उनके स्वभाव में अत्यन्त नीचता, घोर संकीर्णता, पर द्रोह तथा चौरवृत्ति पाई गई है। इसके विपरीत ऐसी पतिताओं से मेरा परिचय रहा है जिनके भीतर मैंने मातृवेदना और नारी-हृदय की यथार्थ करुणा का अथाह सागर उमड़ा हुआ पाया है।"

मैंने फिर प्रश्न किया—यदि यही बात है तो आपने 'श्रीकांत' में अन्नदा दीदी के सतीत्व की महिमा ऐसे जोरदार शब्दों में क्यों घोषित की है कि उसकी प्रदीप्त ज्योति के आगे आपके अन्यान्य नारी चरित्र म्लान पड़ गये हैं?"

इस बात पर शरत्चन्द्र मन्द मन्द मुस्कुराए और बोले—'तुम्हारी यह बात मैं मानता हूँ! अन्नदा दीदी के प्रति वास्तव में मेरी भी आंतरिक श्रद्धा है! मेरे जन्मगत संस्कार आखिर भारतीय ही हैं। फिर भी तुम्हें मैं यह बात बता देना चाहता हूँ कि उसके एकनिष्ठ पातिव्रता धर्म ने मेरी श्रद्धा उतनी नहीं उभाड़ी है, जितनी उसकी प्रेम-प्लावित आत्मा के मुक्त प्रवाह ने।"

शरत् की रचनाओं में वास्तविक जीवन के सम्बन्ध में उनकी गहन अनुभूति के प्रमाण घनीभूत हो उठे हैं। स्पष्ट ही पता चलता है कि मानव-समाज तथा मानव स्वभाव के नीच, संकीर्ण, जघन्य तथा वीभत्स स्वरूप से वह भली-भाँति परिचित थे; यद्यपि उन्होंने इस पहलू को अधिक महत्व न देकर सहस्रों बुराइयों के भीतर दबी हुई महत् प्रवृत्तियों को मानव मन की गहनतम गुहा कंदराओं से बाहर निकाल कर दलित मानवता को अमर महिमा का गौरव-मुकुट पहनाया है।



शरत्चन्द्र की प्रतिभा

(२)

सुनो रे मानुष भाई !
सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपर नाई
—चण्डीदास

"हे भाई मनुष्य सुनो ! सबके ऊपर मनुष्य ही एकमात्र सत्य है; उसके ऊपर कोई दूसरा सत्य नहीं है।"

वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार स्वर्गीय श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय की गणना उन अमर कलाकारों के साथ की जा सकती है जिनकी चिरन्तन वेदनात्मक मार्मिक अनुभूति विश्व-मानव मन के अतल भाव सागर को परिपूर्ण प्राणावेग से मन्थित करके उसके नव-नव वैचित्र्यपूर्ण रहस्यों को युग-युगान्तर से उद्वेलित करती रही है। अनुभूति की मार्मिकता और प्राणावेग, ये दो बातें विशेष रूप से मनन योग्य हैं। अनुभूति किसी न किसी परिमाण में प्रत्येक मानव-प्राणी में वर्तमान रहता है, पर उसकी मार्मिकता केवल प्रतिभाशाली कलाकारों में ही पाई जाती है। यही कारण है कि उनकी मर्मभेदिनी दृष्टि विश्व-प्रकृति तथा मानव प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश करके उनके मूलगत रहस्यों का परिचय सहज में प्राप्त कर लेती है, जिन्हें वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण के साथ अत्यन्त स्वाभाविक तथा सजीव रूप में पाठकों के आगे रखने में समर्थ होते हैं। पर केवल कोरा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किसी भी सच्चे कलाकार के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त नहीं होता। कलाकार का प्रधान सम्बन्ध रहता है प्राणों से। किसी व्यक्ति अथवा विषय के मूल प्राणों का मर्म पाठकों के प्राणों तक पहुँचाने में जो लेखक अक्षम है वह कभी श्रेष्ठ कलाकार नहीं हो सकता। जो रसकार जितनी अधिक वेगशीलता से पाठकों के प्राणों को तरङ्गित करने में समर्थ होगा, अर्थात् जिस लेखक

में प्राणावेग जितना अधिक प्रबल होगा उसकी श्रेष्ठता उतनी ही अधिक प्रमाणित होगी। शरत्चन्द में ये दोनों गुण—अनुभूति की मार्मिकता तथा प्राणावेग—परिपूर्ण रूप से प्रमाणित होने के कारण ही उनकी महत्ता आज विश्व-वन्दनीय होने जा रही है।

मानव मन की गहन रहस्यमय सूक्ष्म भावनाओं को, मानवात्मा के महत् आदर्शों को तथा मनुष्य हृदय की विह्वल वेदनाओं को साधारण जनता तक पहुँचा देना एक असाधारण कलाकार की ही क्षमता की बात है। हमारे यहाँ एक तुलसी दास को छोड़कर अन्य किसी कला-कोविद के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। शरत्चन्द्र के विषय में यह दलील लागू नहीं हो सकती कि उनकी लोकप्रियता का कारण भी अन्यान्य बहुत से जन-प्रिय लेखकों की तरह उनकी रुचि-विकृति है। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित राय देने के पहले हमें 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता की बात ध्यान में रखनी होगी।

× × ×

शरत्चन्द्र की प्रारम्भिक कहानियों में हम कठोर वास्तविकता के आघात प्रतिघात, नाना प्रतिक्रियाओं के वैपरीत्य तथा वैमनस्य के ऊपर वर्तमान युग के चक्र संघर्ष में पिसती हुई मातृ वेदना की विज-यिनी होते हुए देखते हैं। 'रामेर सुमति' में हम देखते हैं कि अपने पितृ मातृहीन सौतेले देवर राम को आजीवन पुत्र की तरह पालने पर भी उसकी शरारतों और अत्याचारों से नारायणी किस प्रकार तङ्ग आ जाती है, तथापि इस उजडड स्वभाव लड़के की अन्तःप्रकृति में निहित अकपट स्नेह का भाव उसे इस प्रबलता से आकर्षित करता है कि जबर्दस्त विरोधी वातावरण के होते हुए भी वह अपने पति, अपनी माता तथा सारे समाज के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करके अन्त तक उस हतभाग्य और विश्व-स्नेह वंचित, दुष्ट किंतु सांसारिक कूट बुद्धि से रहित, नटखट किंतु निष्कपट लड़के का साथ देती है? 'बिन्दुर छेले' का कथानक कुछ विचित्र ढङ्ग का है। बिन्दु एक धनी जमींदार की

लड़की है, पर उसकी जेठानी का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ है। तथापि दोनों बड़े मेल से रहती हैं। दोनों भाइयों में भी बड़ा मेल है। बड़े भाई यादव मुकर्जी पुराने ढङ्ग के और बड़े भोले स्वभाव के आदमी हैं। छोटा भाई माधव नए ढङ्ग का है और उसे अपने धनी कुल की सुन्दर स्त्री का बड़ा गर्व है। तथापि वह अपने. भैया और भाभी के प्रति विशेष श्रद्धावान है। बिन्दु की जेठानी अन्नपूर्णा अपने पति की ही तरह पुराने चाल की स्त्री है। उसका मिजाज तेज होने पर भी उसका हृदय एकदम निष्कपट और अत्यन्त स्नेहशील है। बिन्दु को वह अपनी सगी बहिन, बल्कि यह कहिए कि अपनी लड़की की तरह चाहती थी। निःसतान थी और उसे हिस्टीरिया की बीमारी थी। एक दिन ज्योंही उसे फिट आना ही चाहता था कि अकस्मात् उसकी जेठानी न मालूम क्या सोचकर अपना दूध पीता बच्चा उसके पास रोता हुआ छोड़कर बाहर चली गई। बच्चे के रोने में न मालूम क्या जादू था कि बिंदु को फिट आते-आते रह गया। तब से जब-जब उसे फिट आने को होता, तब-तब उसकी जेठानी अपने बच्चे को उसके पास रोता हुआ छोड़ देती। इस उपाय से बिंदु की फिट की बीमारी अच्छी हो गई और वह अपनी जेठानी के लड़के अमूल्य को स्वयं पालने पोसने लगी। फल यह हुआ कि अमूल्य अपनी मां को जीजी और चाची को मां कहने लगा। अमूल्य के कारण बिंदु अक्सर अपनी जेठानी से झगड़ पड़ती थी। कभी कहती कि उसका दूध ठीक समय पर गरम नहीं किया गया, कभी कहती कि उसके कपड़े न मालूम कहाँ खो दिये। इन छोटी-छोटी बातों को लेकर दोनों में खूब देर तक वाद-विवाद होता, पर कुछ ही समय बाद यह झगड़ा शान्त हो जाता और दोनों हार्दिक स्नेह से एक दूसरे के गले मिलतीं। इसी प्रकार स्नेह-प्रेम तथा वैमनस्य की क्रमानुक्रमिक चक्रगति से दस-बारह वर्ष बीत गए। एक दिन देवरानी-जेठानी का वाद विवाद एक साधारण विषय को लेकर कटुता की इस सीमा को पहुँच गया

कि दोनों के सम्बन्ध-विच्छेद होने की नौबत आ गई। दोनों भाई अलग-अलग रहने लगे। बिंदु का प्राणों से प्रिय 'अमूल्य' जिसके बिना वह एक घड़ी के लिए भी नहीं रह सकती थी, अब अपनी वास्तविक माता के साथ रहने लगा। बिन्दु के पश्चात्ताप की सीमा न रही। केवल अमूल्य को ही नहीं, वह अपनी जेठानी को भी बहुत चाहती थी, जिससे अकारण लड़ पड़ने का परिणाम इस विकट अवस्था को पहुँच गया था। पर वह बड़ी अभिमानिनी थी, और मन में कुछ ही क्यों न सोचे बाहर से यही भाव दिखाती थी कि उसे न तो अमूल्य की परवाह है न उसकी माता की। फिर भी भीतर ही भीतर चिन्ता के कारण वह घुली जाती थी। अन्त में वह मायके चली गई और वहाँ सख्त बीमार पड़ गई। उसकी जेठानी भी अभिमानवश उससे नहीं मिलती थी, पर उसका स्नेह परायण हृदय उसके चले जाने पर विकल क्रन्दन से विह्वल हो रहा था। जब उसने सुना कि बिन्दु की अवस्था चिन्ताजनक है तो वह रह न सकी और पति तथा पुत्र को साथ लेकर सब अभिमान भूलकर बिन्दु के पास जाकर उससे गले मिल कर रोने लगी। जेठ-जेठानी और अपने प्यारे अमूल्य को फिर से पाकर बिन्दु की जो हालत हुई, उसकी तुलना केवल उस अवस्था से की जा सकती है जब भरत, बिछोह की विह्वल वेदना से विमूर्छित से होकर, राम लक्ष्मण और सीता से मिले थे। बिंदु ने कहा "जीजी ! अब मैं न मरूँगी, चिन्ता न करो !"

'बिन्दुर छेले' के कथानक का वर्णन कुछ विस्तार से हमने इसलिए किया है कि इस एक कहानी से शरत्चन्द्र की प्रारम्भिक रचनाओं की विशेषताएँ समझ में आ जावगी। इसमें पाठक देखेंगे कि कैसे विचित्र अन्तर्द्वन्द्वों, परस्पर विरोधी मनोवृत्तियों, बाह्य सघर्ष-विघर्षों की तह में स्निग्ध तथा निष्कलुष प्रेम की पावन प्रशांत धारा मृदु मन्थर गति से कलकल स्वर में बहती चली गई है। विरोधी परिस्थितियों के वैचित्र्यपूर्ण अन्तःचक्रों में दबे हुए सहृदय भावों में

समन्वय तथा सामञ्जस्य प्रतिष्ठित करके उन्हें सुन्दर स्वाभाविक रूप से जनता के सामने रखने की कला में शरदचन्द्र अद्वितीय रहे हैं। उनकी अनेक रचनाओं में हम इसी विशेषता के विभिन्न रूप पाते हैं।

मानव मन के कितने उल्टे-सीधे चक्रों के अत्यंत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण द्वारा शरत्चद्र ने नाना स्वतःविरोधी मनोवृत्तियों तथा परिस्थितियों से पूर्ण वास्तविकता के अत्यंत युक्तियुक्त परिदर्शन द्वारा अपरिज्ञात रूप से मनोहर आदर्शों का प्रस्फुटन किया है। इन आदर्शों के प्रदर्शन से उनकी कला में कहीं किसी प्रकार की अस्वाभाविक कृत्रिमता नहीं आने पाई, न कहीं उसमें आदर्श प्रतिष्ठित करने की कोई चेष्टा ही लक्षित होती है। अपने प्रत्येक चित्रांकण में आलोक तथा छाया के उपयुक्त अनुपात का विचार ऐसी सूक्ष्मता से उन्होंने किया है कि कहीं कोई रेखा बाल बराबर भी इधर से उधर नहीं होने पाई है। आदर्श के लिए उन्होंने कहीं कला को रत्तीमात्र भी खण्डित नहीं किया है, और साथ ही यह बात भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि कोरी कला के लिये उन्होंने कभी आदर्श को भी खर्व नहीं होने दिया है। अन्यान्य श्रेष्ठ कलाकारों से शरत् की महानता इसी बात में है। संसार का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार इस युग में एण्टन चेखोव माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसका चरित्र चित्रांकण अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वास्तविक और सजीव होता है; और साथ ही उसके चरित्र भी अत्यन्त जटिल, मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से घिरे हुए रहते हैं। ऐसे चरित्रों का यथार्थ चित्रण कोई दिल्लगी नहीं, और चेखोव ने उनके विश्लेषण में जो बारीकियाँ दिखायी हैं, वे अतुलनीय हैं। पर उसकी किसी भी कहानी के अंतराल में अतःसलिला धारा की तरह आदर्श की यह अनिन्द्र-यता प्रतिभासित नहीं हुई है जो हम शरत्चंद्र की कहानियों में पाते हैं।

अपनी प्रारम्भिक कहानियों के बाद शरत्चद्र ने जो क्रान्तिकारी उपन्यास लिखे, उनमें उन्होंने स्त्री पुरुष के पारस्परिक प्रेम का एक ऐसा अपूर्व आदर्श जनता के सामने रखा जिससे सारा भारतीय समाज

हिल उठा। उनकी इस नव कल्पनामयी कला में अंतर्विप्लव की जो हिलोर कल्लोलित हो उठी, उसकी तुलना यूरोप के उस युग विप्लव से की जा सकती है जो जर्मन कवि गेटे की प्रथम-प्रचारित रचना 'वेर्टेर' द्वारा उमड़ पड़ा था। 'वेर्टेर' के प्रभाव के सम्बंध में कार्लाइल ने जो कुछ लिखा है वही बात शरत्चंद्र द्वारा आंदोलित क्रांति के सम्बंध में कही जा सकती है। कार्लाइल ने लिखा है:—

"यह अवर्णनीय अज्ञात अशान्ति, बंधनग्रस्त आत्मा की वह अंध आलोकात्मक स्वतंत्रताभिलाषा, वह विपुल विषादमूलक महत असंतोष जो प्रत्येक मानव प्राणी के अतर में उच्छ्वसित हो रहा था, गेटे को मर्माहत कर चुका था। उसका अनुभव सभी कर रहे थे, पर केवल गेटे ही उसे वाणी के रूप में घोषित कर सका। उसकी तत्कालीन लोकप्रियता का रहस्य यहीं पर है। अपने गहन भावप्रवण हृदय में उसने उस वेदना को अन्यान्य व्यक्तियों से सहस्र गुणा अधिक मार्मिकता से अनुभूत किया, और अपनी कविजनोचित सर्जनामयी प्रेरणा से उसने उस वेदना को एक समूर्त तथा सजीव रूप दे दिया। 'वेर्टेर' केवल उस अस्पष्ट, किन्तु मर्मगत वेदना की कराह है जो एक विशेष युग के सभी विचारशील व्यक्तियों को दलित तथा पीड़ित कर रही थी। इसी कारण सारे यूरोप ने हृदय तथा वाणी से तत्काल उसका स्वागत किया।"

'वेर्टेर' में 'देवदास' की ही तरह सामाजिक शासन-चक्र से पीड़ित एक प्रेम-कीलित आत्मा के निष्फल विद्रोह और हाहाकार की ट्रेजिक गाथा वर्णित हुई है। वेर्टेर ने तिरस्कृत प्रेम और असफल आकांक्षा से उकता कर आत्महत्या कर ली और देवदास भी इन्हीं कारणों से जीवन के प्रति उदासीन होकर मृत्यु के अन्धकूप की ओर लुढ़कता चला गया। पर वेर्टेर और देवदास में एक बड़ा भारी अन्तर है। वह यह कि वेर्टेर की प्रेमानुभूति विशुद्ध भावुकता के रस में सराबोर थी। उसने अपनी काव्य कल्पना से चार्लोट के प्रति अपने प्रेम का जो

विराटरूप अपने मन में अंकित किया था, उसके अन्तस्तल में वास्तव में उसका अस्तित्व उस रूप में नहीं था। वह भावुकता की तरंग में बहते बहते अन्त में डूब तक गया और उसकी मृत्यु भी हो गई, तथापि वह यह सिद्ध भी नहीं कर सका कि उसके हृदय में प्रेम की भावना यथार्थ में उतने ही गहन रूप में अवस्थित थी जिस रूप में उसने अपनी छायावादी भावुकता भरे पत्रों में प्रदर्शित किया है। पर देवदास की बात ही कुछ दूसरी थी। देवदास के चरित्र में बहुत सी दुर्बलताएँ होने पर भी उसका प्रेम ऐसा मर्मगत तथा मूक है कि लेखक ने यद्यपि कहीं उसका वर्णन तथा स्पष्टीकरण तक नहीं किया है, तथापि प्रत्येक पाठक उसकी निविड़ता का अनुभव अपने अंतस्तल में करता है। वेर्टेर और चार्लोट के प्रेम का कारण एक नवयुवक और एक नवयुवती का साधारण और स्वाभाविक वासनात्मक आकर्षण है। पर देवदास और पार्वती के प्रेम के सम्बंध में ऐसा अनुभव होने लगता है जैसे किसी गहन गंभीर गुहा से प्रेम की दो धाराएँ उमड़ कर साथ ही बहती आई हैं, पर पथ में विशाल पर्वत पाषाणों से टकराने के कारण दोनों धाराएँ अलग हो पड़ी हैं और उसके बीच में विराट् व्यवधान पड़ गया है; तथापि दोनों अनन्त मिलन की चिर व्याकुलता लेकर नाना गिरि-कन्दराओं तथा गहन अरण्य-पथों में पछाड़ खाती हुई युग से युगान्तर की ओर प्रवाहित होती चली गई हैं। देवदास और पार्वती के प्रेम-वर्णन के लिए इस जटिल छायावादी रूपक की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि यद्यपि शरत्चंद्र ने कठोर वास्तविक जीवन के रंगमच पर उसका प्रदर्शन किया है, तथापि उसका मूलाधार उस चिरन्तर आध्यात्मिक सत्य पर स्थित है जिनकी प्रतिध्वनि वैष्णव कवि की इस उक्ति में फूट पड़ी थी:—

लाख-लाख युग हिये-हिये राखनु
तबु हिया जुड़न न गेलो ॥

वेर्टेर और चारलोट का प्रेम क्षणिक भावावेश की अस्थायी

अवधि तक सीमित है, पर देवदास और पार्वती का प्रेम महाकाल के असीम बैकग्राउण्ड पर अधिष्ठित है। यही कारण है कि 'वेर्टेर' के प्रकाशन से भावावेग की जो उद्दाम तरंग एक बार सारे यूरोप में उद्वेलित हो उठा, वह दो चार वर्ष से अधिक समय तक स्थायी न रहा। पर 'देवदास' का लहर यद्यपि 'वेर्टेर' के अनुरूप कारणों से ही भारत में उमड़ी तथापि आज उसके प्रथम प्रकाशन के बीस-बाइस वर्ष बाद भी उसका अस्तित्व लोप न होकर उसका प्लावन अधिकाधिक बढ़ता ही चला जाता है। यह ठीक है कि देवदास वर्टेर की तरह ही दुर्बल और निकम्मा प्राणी है और उनकी घृणित चरित्रहीनता अत्यंत अक्षम्य है पर हम यहाँ पर कलाकार की कुशलता की बात कह रहे हैं। उसने ऐसी सूक्ष्म कलात्मक चतुराई से उसका चरित्र चित्रित किया है जो बड़े बड़े पारखियों को धोखे में डाल देती है।

कहा जाता है कि शरत् की नारियों में विद्रोह का भाव रहा है। पर मैं कहना चाहता हूँ कि उनमें वास्तविक विद्रोह नहीं बल्कि विद्रोह का बाहरी रूप वर्तमान है। यह विद्रोह उस तूफान की तरह है जो समुद्र की मर्यादा को लघित नहीं कर सकता। समाज की वाह्य व्यवस्था का पालन पूर्ण रूप से न करने पर भी शरत्चन्द्र की नायिकाएँ महत्वपूर्ण विषयों में सदा समाज की मर्यादा को मानती चली गई हैं। देवदास के प्रति अपने प्रेम को तनिक न छिपाने पर भी पार्वती अपने वृद्ध पति के साथ प्रेमभाव से रह कर सामाजिक विधि विधानों का पूर्ण पालन करती गई है। सतीश के प्रति आन्तरिक प्रेम होते हुए भी सावित्री उसके साथ विवाह के प्रस्ताव पर कभी राजी न हुई और न कभी किसी प्रकार का दैहिक सम्बंध उसने उससे स्थापित किया। श्रीकांत की अन्नदा दीदी ने कुल त्याग कर भी अपने सँपेरे पति का साथ अंत तक दिया। राजलक्ष्मी घटनाओं मे वेश्या का जीवन बिताने को बाध्य होने पर भी अपने मूलगत धार्मिक संस्कार का त्याग उसने कभी न किया और जिस व्यक्ति को (श्रीकांत का) वह अपने प्राणों से

भी अधिक चाहती थी उसके साथ सदा पवित्र सम्बंध निभाहती आई
शरत्चंद्र अपने युग के लिए प्रगतिशील होने पर भी पात्र की दृष्टि
से प्रगतिशील नहीं थे, इसलिए नारी हृदय के पूर्ण विद्रोह के विस्फोट
को चित्रण करने में वह असमर्थ रहे। इसका एक कारण यह था, कि
वह जिस आदर्श को प्रस्फुटित करना चाहते थे उसके लिए नारी का यह
रूप उन्हें अभीष्ट न था। 'श्रीकांत' की अभया केवल एक ऐसी नारी है
जिसने अपने अत्याचारी आततायी पति का संसर्ग त्यागकर दूसरे पुरुष
के साथ पूर्ण रूप से गार्हस्थिक सम्बंध स्थापित करने का साहस किया
। पर इस विद्रोहिनी नारी की आत्मा के तलप्रदेश में भी मातृजाति
की स्वाभाविक मर्यादा और संसार तथा भगवान, दोनों के प्रति उत्तर-
दायित्व की भावना पूर्ण रूप से वर्तमान रही है।

शरत् के स्त्री-पात्रों के जीवन में कैसी ही उच्छृंखलता क्यों न पाई
जाती हो पर संसार तथा भगवान के प्रति वे सब उत्तरदायित्वपूर्ण हैं,
और इसी कारण उनके जीवन का आदर्श अत्यंत सुदृढ़ भित्ति पर
प्रतिष्ठित है। यदि यह सुदृढ़ भित्ति न होती तो उनका विद्रोह साबुन
के पानी के बर्तनों में मचे हुए तूफान के कारण उठे हुए बुलबुलों की
तरह सारहीन होता। जिन आलोचकों ने शरत् की भावना में उच्छृं-
खलता निर्देशित की है उन्होंने केवल उसका बाहरी रूप ही देखा है
और यह नहीं देखा कि उसका आधार कितनी गहराई पर है और
किस प्रकार ठोस है।

पतित पुरुष तथा भ्रष्टा नारी के भीतर भी देवत्व का निवास है;
यह भाव नया न होने पर भी शरत् ने अपने कवि हृदय की सुकुमार
तथा मार्मिक अनुभूति से उसे अत्यन्त सुन्दर रूप से व्यंजित किया है,
इसीलिए धर्म के ठेकेदारों के आक्रमण उन पर होते रहे हैं।

शरत् के पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'पतिता' शीर्षक कविता
में एक भ्रष्टा वराङ्गना के अंतर में निहित देवत्व के अमृत स्रोत को
इस सहज स्वाभाविक गति से उन्मुक्त किया था कि उसके पुण्य प्रवाह

से सारा वंग-काव्य-साहित्य परिप्लावित हो उठा था। प्रायः चालीस वर्ष पहले रवींद्रनाथ ने एक कविता लिखी थी जिसमें उन्होंने अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि की उदार सहृदयता से प्रेरित होकर पतिता नारी का महात्म्य इन शब्दों में वर्णित किया था:—

'सतीलोक में न जाने कितनी ऐसी पतिव्रताएँ वास करती हैं, जिनकी कथाएं पुराणों में उज्ज्वल रूप से वर्तमान हैं। उनके अतिरिक्त और भी लाखों अज्ञातनामिनी, ख्यातिहीना, कीर्तिहीना सतियाँ वर्तमान रही हैं। उनमें से कोई राजप्रासाद में रहती थी, कोई पर्ण कुटी में रहती थी, कोई पति का प्रेम पाकर सुखी थी, और कोई अनादर और अवज्ञा में जीवन बिताती थी। (निष्काम) प्रेम की धारा बहाकर और अपना नाम मिटा कर वे मर्त्यलोक से सतीलोक में चली आती रही हैं। उन्हीं सतियों के बीच में पतिता रमणी भी विराज रही है; जो मर्त्य में कलङ्किनी है, पर स्वर्ग में सतियों की शिरोमणि के रूप में अवस्थित है। उसे देख कर सती गर्व से गर्विणी स्त्रियाँ लज्जा से सिर झुका लेती हैं। उसकी वार्ता तुम क्या समझोगे ? केवल अन्तर्यामी ही उसके सतीत्व की गाथा से परिचित हैं।"

हमें स्मरण रखना चाहिए कि शरत्चन्द्र का जन्म उस प्रदेश में हुआ है जहाँ मध्ययुग के अन्यतम कवि चंडीदास ने एक धोबन के प्रेम से पागल होकर, संसार और समाज का झूठा बंधन तोड़कर करुणा और प्रेम की ऐसी धारा बहा दी जिसकी बाढ़ में वंग-साहित्य-संसार अभी तक बहता चला आया है। चंडीदास ने सामाजिकता के वाह्याचार की तनिक भी परवा न करके मनुष्य के मानवत्व को अपनाकर अमर शब्दों में उसकी विजय घोषणा की थी !

रवीन्द्रनाथ ने एक विशुद्ध कवि की प्रेरणा पाकर अरूपात्मक भावों के उद्वेलन द्वारा पतिता की अन्तरात्मा के भीतर छिपे हुए पुण्य आलोक का प्रदर्शन किया है। पर शरत्चंद्र कवि प्राण होने पर भी वास्तविक जीवन के उपन्यासकार थे। उन्हें उसी अरूपात्मक

भाव को अभिव्यक्त करने के लिए कठोर वस्तविकता के संघर्ष के बीच प्रवेश करना पड़ा है। वास्तविक जीवन की वीभत्स पंकिलता को मथित करके उन्होंने चिर उपेक्षिता, अनाथा, घृणित नारी के हृदय के अंतरतम प्रदेश में दबे हुए दिव्य कमल को बाहर निकाल कर अत्यंत मनोरम रूप से प्रस्फुटित किया है। यही उनका दोष रहा है, जिसे कुछ आलोचक क्षमा नहीं कर सके हैं; वही उनका गुण रहा है जिसने लाखों पाठकों के पाप-तप्त हृदयों में शीतल पुण्यामृत का अविरल स्रोत बहा दिया है।

जिन लोगों ने शरत्चंद्र को दुर्नीति तथा अनाचार का प्रचारक बताने का दुस्साहस किया है उन्हें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शरत्चंद्र ने अन्नदा दीदी तथा सुरबाला के समान ऐसे अमर चरित्रों की अवतारणा की है जिनके उज्ज्वल सतीत्व के आगे पौराणिक सतियों के चरित्र भी फीके पड़ जाते हैं। वास्तव में सतीत्व के आदर्श के प्रति शरत् अत्यन्त श्रद्धावान रहे हैं, मौखिक रूप से वह भले ही कुछ कहते रहे हों। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि उच्छृङ्खलता तथा अनाचार के वह सदा विरोधी रहे हैं। किसी भी नायक अथवा नायिका के उत्तरदायित्वहीन समाज-विद्रोह का समर्थन उन्होंने क्षीण इङ्गित से भी कभी नहीं किया है। 'चरित्रहीन' की किरणमयी की दुर्गति का जो लोमहर्षक तथा मर्मभेदी चित्रांकण उन्होंने किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। जिन समाज-बहिष्कृता, कुलत्यागिनी अथवा कलंकिता नारियों के प्रति उन्होंने उदार समवेदना प्रदर्शित की है वे मीरा की तरह कुल-कानि त्यागने पर भी अपनी निजी आत्मा, विश्वात्मा तथा परमात्मा के प्रति अपने उत्तर-दायित्व को पूर्ण रूप से निबाहती चली गई हैं। अन्तर केवल यही रहा कि मीरा ने कृष्ण की काल्पनिक मूर्ति पर अपना तन, मन, प्राण निछावर करके चिर-मिलन का मोहोन्मादमय जीवन बिताया है और शरत् की प्रत्येक समाज-पीड़िता नारी ने अपने वास्तविक जीवन के

सजीव कृष्ण के प्रेम में तन्मय होकर चिर-विरह की विह्वल वेदना को प्रशांत हृदय से वरण किया है।

कालिदास ने प्रेम-प्रवंचिता दीर्घ-विरह व्रतचारिणी शकुन्तला की सकरुण स्निग्धच्छवि का वर्णन इन मार्मिक शब्दों में किया है:—

वसने परिधूसरे वासना, नियमक्षाममुखी धृतैकवेणि:
अति निष्करुणस्य शुद्धशीला, मम दीर्घ विरहव्रतं विमर्ति।

करुणा-कलित वैराग्य की कमनीय कोमल वेदना का जो मूर्तिमान रूप कालिदास ने इस अमर श्लोक में अङ्कित किया है, शरत्चन्द्र ने पार्वती, सावित्री, चंद्रमुखी आदि चरित्रों में उसी की महिमा अधिकतर सघन रूप से चित्रित की है। कालिदास की शकुन्तला दीर्घ विरह-व्रत चारिणी रही है, पर शरत् की पूर्वोक्त नायिकाएँ अनन्तकालीन विरह का महाव्रत मौन वेदना से यापन करती चली गई हैं। शकुंतला की विरह व्यथा मिलन की अज्ञात आशा के आलोक से उज्ज्वल थी और वह आशा अन्त में सफल भी हुई। पर शरद् की नारियों को मिलन की प्रत्यक्ष सुविधाएँ होते हुए भी वास्तविक मिलन से वे सदा दूर रही हैं, और अनन्त विरह की पावन अग्नि में चिरकाल तपते रहना ही वे इहलोक तथा परलोक का आदर्श मानकर चली हैं। इस प्रकार के पुण्य-चरित्रों की अमर गाथा से आर्य-संस्कृति को कलंकित करने के बजाय शरत्चंद्र ने उसे वर्णनातीत रूप से महिमान्वित किया है, यह बात निःशङ्क होकर कही जा सकती है।

महाप्राण शरत्चन्द्र की यह विशेषता विश्व-साहित्य में सदा वन्दनीय होकर रहेगी। रूसी युग के बाद ऐसा एक भी कहानी कलाकर संसार में पैदा नहीं हुआ जो प्राण-प्रवेग में शरत् का मुकाबला कर सके और जो डास्टाएव्सकी तथा शरत् की तरह आन्तरिक समवेदना से पतिता नारी के पदप्रान्त में झुककर यह गद् गद्-विह्वल भाव-व्यक्त करने का वास्तविक अधिकारी बन सके कि "मैं पीड़ित मानवता को श्रद्धा से प्रणाम करता हूँ।"

१९३८

साहित्य में दुःखवाद

एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्त्तान् ;
आवर्त्त बुद्बुद्तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेवहि तत्समस्तम्‌* ।

—भवभूति ।

विश्व-साहित्य में विषाद-रस का इतना आधिक्य है कि देखकर आश्चर्य होता है। प्राचीनतम काल से कवि लोग इस रस की चर्चा में निमग्न होते आये हैं। ग्रीक लोगों के ट्रेजेडी-साहित्य का रस जिन लोगों ने पान किया है, वे जानते हैं कि यह रस कैसा अनिर्वचनीय, अद्वितीय तथा अनोखा है। होमर के महाकाव्य इस रस से भरे पड़े हैं। रामायण की कथा में यह रस कितने प्रचण्ड-रूप से मथित हुआ है, यह सभी को विदित है। इस महाकाव्य की मूल कथा राम वनवास से प्रारम्भ हुई है और सीता-वनवास में समाप्त हुई है। यदि रामायण को हम विषाद-रस का उत्ताल तरङ्ग माला समाकुल सागर कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। महाभारत के भीषण युद्ध का परिणाम और कुछ भी हो, सुखात्मक नहीं कहा जा सकता। इस काव्य के कवि ने विषाद-रस के अतल गर्भ में अपनी सर्वात्मा निमज्जित करके धीरे धीरे वहाँ से बाहर निकल कर, महाकाश के मुक्त प्रसार में ईथर की सूक्ष्म तरंगों में निर्द्वन्द्व भाव से उड़ान भरने की चेष्टा की है। यद्यपि वह प्रचण्ड आशावादी रहा है, तथापि इस काव्य की कथा हृदय में एक गंभीर विषाद की प्रगाढ़ छाया अङ्कित कर जाती है।

दान्ते का 'स्वर्गीय काव्य-नाट्य' उसकी मर्म वेदना से घनाच्छन्न है।

---

* रस एक ही है, और वह करुण है, जो निमित्त-भेद से भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त होता है; जिस प्रकार जल एक होने पर भी आवर्त्त बुद्बुद्, तरंग आदि नाना रूपों में व्यक्त होता है।

शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों में उत्कट विषाद का ऐसा कटु रस मथित हुआ है कि उसके आस्वादन से आत्मा में भीषण आतङ्क छा जाता है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के अंगरेज कवि तथा रोमान्टिक युग के फ्रान्सीसी कवियों की कविता भी मुख्यतः दुःखमूलक है। बायरनवाद ने यूरोप के कवियों पर विशेष प्रभाव डाला है। वड्सवर्थ, टेनीसन् भी, जो अंग्रेज कवियों में सबसे अधिक आशावादी कहे जा सकते हैं, मानव-जीवन की करुण गाथा वर्णन करने में विशेष आनन्द प्राप्त करते थे। जर्मनी में गेटे 'Werther fever' नामक भयङ्कर विषाद विशिष्ट रोग का बीज वपन कर गया है जिसकी उत्पत्ति 'वेर्टेर का शोक' नामक उपन्यास में हुई है। एक जमाने में सारा यूरोप इस रोग से आक्रान्त हो गया था। गेटे के 'फौस्ट' में वर्णित दुःखान्त कथा हृदय को उत्कट वेदना से द्रवीभूत तथा अवसादित कर देती है।

मानव-हृदय की समस्त वृत्तियाँ न मालूम किस प्रचण्ड आकर्षण की तीव्रता से चिरन्तन दुःख के भाव में केन्द्रीभूत होने के लिए व्याकुल रहती हैं। इस दुःख की अनिर्वचनीय माया के प्रभाव से मनुष्य का सदा-विद्रोही मन नाना जटिलताओं से संकुल होने पर भी शान्त तथा स्थिर हो जाता है। इस रहस्य का कारण अज्ञात तथा अज्ञेय है। यह सोचना भ्रमात्मक होगा कि सांसारिक कष्टों से पीड़ित दुःखी आत्माएँ ही विषाद की माया से आकर्षित होती हैं। बल्कि ध्यान पूर्वक विचार करने से यह जान पड़ता है कि सबसे अधिक सुखी वे ही जीव हैं, जिनकी आत्माएँ टेनीसन के 'लोटस ईटर्स' कमल-भक्षकों की 'स्निग्ध हृदय के मधुर विषाद' के मद-विह्वल रस से अभिषिञ्चित हों।

टेनीसन के कथनानुसार सुखी मनुष्य शरत काल के प्रसन्न तथा निर्मल खेतों को देखकर रोवे, कालिदास के कथनानुसार चिर-सन्तुष्ट जीव रमणीय दृश्य देखकर तथा मधुर शब्द सुनकर उत्कण्ठित हों,

यह बात अत्यन्त विरोधाभासात्मक है। पर यह वास्तविक तथ्य है। मनुष्य की मूल प्रकृति, उसका प्रत्येक रक्तकण इस हद तक विषाद-भाव के प्रति आकर्षित होता है कि उसकी प्रसन्नता की चरमावस्था आँसुओं के रूप में प्रकट होती है! सभी जानते हैं कि जब कोई व्यक्ति किसी उमङ्ग से हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है तो उसकी आँखों से आँसू निकल आते हैं। शारीरिक क्रिया का जब यह हाल है तब आध्यात्मिक भावावेग के सम्बन्ध में कुछ कहना ही व्यर्थ है। टेनीसन के स्वर्गीय विषाद 'डिवाइन डिस्पेयर' का भाव सृष्टि के मूलकेन्द्र में अवस्थित है।

'साहित्य कला और विरह' शीर्षक लेख में कहा जा चुका है कि चिरन्तर विरह का भाव बीच बीच में हमारे अन्तस्तल से उद्भूत होकर समस्त आत्मा को व्याकुल कर देता है। इस भाव के निर्झर का आवेग मिलन के समय तीव्रतम होता है। यही कारण है कि प्रेमी लोगों का उच्छ्वास विरह की अपेक्षा मिलन के अवसर पर अधिक बढ़ता हुआ देखा गया है। वास्तविक विरह की अवस्था में शारीरिक वेदना का जोर ज्यादा रहता है, पर मिलन के समय एक अज्ञात मधुर आध्यात्मिक वेदना उमड़ती है, जो अपनी स्निग्धता से एक अपूर्व करुण उत्सुकता उत्पन्न कर देती है। इसी कारण हम शेक्सपीयर की मिराण्डा को मिलन के उल्लास से रोते देखते हैं और सुदीर्घ विरह के पश्चात् काश्यपाश्रम में दुष्यन्त तथा शकुन्तला का मिलन चित्त को मधुर करुणा के आवेश से इतना विकल कर देता है।

प्रकृति के चक्र में दुःख और सुख—अन्धकार तथा प्रकाश—ये दो परस्पर-विरोधी 'गुण' वर्तमान हैं। बहुधा यह देखा गया है कि जो कवि जितना अनुभवी होता है वह उसी परिमाण में दुःख तथा अन्धकार की ओर अधिक झुकता है। प्रेम तथा आनन्द के कवि कालिदास और रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता-रूपी इन्द्र धनुष की मनोमुग्धकर 'रङ्गच्छाया' का निबिड़ कृष्ण मेघ के फलक पर चित्रित करना पसन्द

किया है। बसन्त की सुमधुर प्रसन्नता की अपेक्षा वे वर्षा के स्तब्ध गाम्भीर्य से अधिक मोहित हुए हैं। दिन की उज्ज्वलता की अपेक्षा रात्रि के गहन अन्धकार से उनका चित्त अधिक विचलित हुआ है। एक कविता में रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—

यथा दिवा अवसाने निशीथ निलयें
विश्व देखा देय तार ग्रह-तारा लये,
हास्य परिहास-मुक्त हृदये आमार
देखितो से अन्तहीन जगत् विस्तार।

'जिस प्रकार दिन के अवसान होने पर रात्रि के आलय में विश्व अपने ग्रह और तारकाओं को लेकर प्रकट होता है, उसी प्रकार हास्य-परिहास से मुक्त मेरे हृदय में वह अन्तहीन जगत का विस्तार देखती।' इसी सम्बन्ध में एक जगह उन्होंने लिखा है, 'मैंने उस (अपनी प्रिया को) कल्पना का सत्य राज्य नहीं दिखाया–इस निर्जन आत्मा के अन्धकार में नहीं बैठाया।" आत्मा के रहस्य में एक सनिविड़ अंधकार की गहन छाया छिपी है। उसकी माया कवि को पागल किये देती है।

यह सोचकर आश्चर्य होता है कि ऐसा क्यों हुआ करता है। प्रकाश की मधुर प्रसन्नता छोड़कर कवि अनन्त अन्धकार की गहन माया का पीछा क्यों करता है? वसन्त के निर्मल शुभ्र प्रभात से शरत् की शान्त, स्निग्ध सन्ध्या अपने मधुर विषाद से उसकी आत्मा को अधिक प्रामोदित करती है। रात्रि की सुनिविड़ कालिमा से उसे जो प्रेरणा प्राप्त होती है, वह मध्याह्न के तेजोदीप्त प्रकाश से कदापि नहीं हो सकती। कोयल की कूक की प्रशंसा कवि बहुधा किया करते हैं। पर विवेचक तथा रसज्ञ पाठक जानते हैं कि 'कपोत-कूजन' 'केका-रव' तथा कुररी के विलाप के वर्णन में कवि की आत्मा कितना अधिक उल्लसित होती है। संसार के कठोर वास्तविकताजन्य सुख दुखों के भोग से अनुभव-प्राप्त प्रौढ़ हृदय का प्रेम हृदय की अन्तर्तम वृत्तियों को आलोड़ित कर देता है; पर नवोढ़ा युवती का

गाम्भीर्यहीन नवीन प्रेम उसे केवल हलकी गुद्गुदी देने में समर्थ होता है। शकुन्तला के नवीन प्रेम ने दुष्यन्त को विचलित अवश्य किया था, पर वह उसे शीघ्र ही भूल गये थे। किन्तु सुदीर्घ विरह व्रत के कारण जब शकुन्तला का हृदय परिणतावस्था को प्राप्त हो गया तब उसके लिए दुष्यन्त कितने विकल हुए थे, यह सभी को विदित है।

शेली के आनन्द के मूल भाव की कल्पना उसके रात्रि की मूल भावात्मा से उद्भूत होती है। उसी प्रकार कालिदास की अनन्त आनन्द तथा अनन्त यौवनमयी अलकापुरी की कल्पना निबिड़ कृष्ण मेघ की सघनता के मूल भाव से उत्सारित हुई। इन सब बातों से यही जान पड़ता है कि इन कवियों की आध्यात्मिक क्षुधा के लिए अन्धकार कम महत्वपूर्ण नहीं है। अन्धकार तथा प्रकाश, दुःख और सुख एकमेवाद्वितीयम् सत्य के ही दो विभिन्न स्वरूप हैं। इन दोनों के सामञ्जस्य से ही सत्य का पूर्ण आभास प्राप्त होता है। कालिदास के मेघदूत में वसन्त तथा वर्षा का अपूर्व सामञ्जस्य पाया जाता है। टेनीसन के "मुक्त प्रकाश तथा भासमान छाया के पूर्ण प्रवाह प्राप्त सामञ्जस्य" में भी यही भाव ध्वनित होता है।

विचार करने पर जान पड़ेगा कि अन्धकार में स्थिरता, गाम्भीर्य तथा अपरमित का भाव पाया जाता है। सुनील गगन की स्तब्ध निविड़ता में जो अनन्त की स्थिर शान्त, महती गरिमा का भाव प्रभासित होता है वह अनन्य है। पर प्रकाश की चंचल चमक सदा दोलायमान, अस्थिर तथा क्षणिक होती है। उसकी तड़क भड़क में सार बहुत कम रहता है। वह गम्भीर कालिमामय प्रशान्त सागर की कल्लोलमय तरंगमाला के शुभ्र फेन की तरह सुन्दर तथापि लघु होती है। इसमें सन्देह नहीं कि आलोक से ही विद्या तथा आनन्द प्रसूत होते हैं। पर साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि आलोक अन्धकार के रहस्यमय गर्भ से उद्भूत होता है। जब ईथर का कम्पन निम्नतम अवस्था में होता है तब अन्धकार

आलोक के जनक के रूप में विद्यमान रहता है; जब उसका कम्पन चरमावस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह आलोक का भी आलोक बन जाता है। अन्धकार कदापि आलोक का 'नास्ति' रूप नहीं है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व वर्तमान है। जर्मन कवि गेटे ने जब न्यूटन की 'स्पेक्ट्रम थिओरी' का खण्डन किया, तब उसने यह मत प्रकट किया कि अन्धकार एक सकारात्मक गुण है। उसका कहना है कि शुभ्र आलोक में कोई रंग वर्तमान नहीं है। न्यूटन की यह उक्ति भ्रमपूर्ण है कि रंगों की 'रलच्छाया' शुभ्र आलोक से प्रसूत होती है। गेटे के मतानुसार रंगों की उत्पत्ति आलोक तथा अन्धकार के भिन्न-भिन्न परिमाणों में सम्मिलित होने से होती है। जिस प्रकार कबीर का 'शब्द' आत्मा की निस्तब्धता से उद्भूत होता है, उसी प्रकार आलोक अन्धकार से उत्पन्न होता है।

यहाँ तक हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि अन्धकार की माया कवियों के लिये कितनी आकर्षक है। अब देखना चाहिए कि विश्व साहित्य में विषाद की जो इतनी प्रधानता पाई जाती है उसका मूल कारण क्या है? मनुष्य सदा महत् आदर्शों की प्राप्ति की चेष्टा में रत रहता है, पर पग-पग में उसे अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। आदर्शों तथा बाधाओं के बीच निरन्तर संघर्षण चलता जाता है। यही संघर्षण मनुष्य के चिरन्तर दुःख तथा विषाद का मूल कारण है। मानव-प्रकृति दुर्बलताओं से भरी पड़ी है, मनुष्य उन्हें जीतने की चेष्टा करता है, पर बहुधा परास्त हो जाता है। उसकी प्रकृति-गत दुर्बलताएं ही उसको अवसादग्रस्त बना देती हैं। महाभारत में वर्णित नाशकारी महायुद्ध का मुख्य कारण युधिष्ठिर की दुर्बलता ही थी। वह अपने राज्य तथा अपनी चरित्रशीला अबला स्त्री तक को भी जुए में हार गये! धर्मराज होने पर भी उनकी प्रकृति में इतनी घोर दुर्बलता का अस्तित्व देखकर स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि

मानव चरित्र की नींव में दुर्बलता का बीज कितने भीतर जाकर पैठा है। इलियड में वर्णित ट्रोजन युद्ध का मूल कारण अनुपम सुन्दरी हेलेन का उद्दाम तथा असंयत वासना ही है। उसने पेरिस नामक ट्रोजन युवक के सौंदर्य पर मोहित होकर अपना पति त्याग दिया था। आत्मसंयम की हीनता के कारण ही उसने ऐसा किया था, स्वेच्छा पूर्वक नहीं!

गेटे के 'फौस्ट' ने अपनी दो आत्माओं' के सम्बन्ध में जो प्रसिद्ध उद्गार प्रकट किया है, उससे इस रहस्य के उद्घाटन में कुछ सहायता मिल सकती है। वह कहता है—"हाय! मेरे भीतर दो आत्माएँ निवास करती हैं। एक आत्मा दूसरे को विसर्जित करने के लिये सदा उत्सुक करती है। एक तो संसार की विपुल कामनाओं के भोग के लिये लालायित होकर एक पार्थिव संसार को अपनी इन्द्रियों से दृढ़ता-पूर्वक जकड़े है, दूसरा पार्थिव-भोग के दलदल से मुक्ति पाने के लिये महाकाश के उन्मुक्त प्रसार में अपने पंख फैलाकर उड़ान भरना चाहती है। हे वायुलोक की आत्माओं! मुझे सदा नये-नये रूपों में परिवर्तित होने वाले विपुल तथा अज्ञात जीवन की ओर ले चलो!'

ये 'दो आत्माएँ' प्रत्येक व्यक्ति के भीतर निवास करती हैं, पर अस्पष्ट रूप में। किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति के भीतर वे दो स्पष्ट धाराओं में विकसित होती जाती हैं। एक उसे विलासिता के प्रति आकर्षित करती है दूसरी उसे महत् आदर्शों की ओर खींचती है। इन 'दो आत्माओं' के 'संघर्षण' से एक प्रकार की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, जो उद्दीप्त तारकाओं के प्रबल उत्ताप की तरह सदा सृष्टि की रचना भी करती है और नाश भी। महापुरुषों के हृदय के भीतर यह जो भयंकर अग्निकाण्ड प्रतिक्षण जारी रहता है उसके कारण उसका स्वभाव भी उत्तप्त रहता है और जीवन भी अनेकांश में दुःखमय बन जाता है। यही कारण है कि गेटे ने एकाधिक बार आत्मघात करने की चेष्टा की थी। यह अनुमान करना

अनुचित न होगा कि 'हैमलेट' का रचयिता अपनी अमर ट्रेजेडी लिखने के पहले जीवन से उकता गया होगा। रूसो अपनी प्रकृति की उद्दाम प्रवृत्ति के कारण जीवन-भर कष्ट भोगता रहा। टालसटाय की द्विविधा प्रकृति (Double Personality) तो प्रसिद्ध ही है। इसके कारण उसे बहुत दुःख झेलने पड़े। To be or not to be ('जीना चाहिए या मरना') के प्रश्न ने हैमलेट की तरह उसे भी बहुत दिनों तक सताया था।

फौस्ट की 'दो आत्माओं' का भाव हमारे उपनिषदों में दूसरे ढंग से मिलता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

"दो सुन्दर पक्षी संयुक्त होकर एक ही वृक्ष को आलिङ्गन किये हुए हैं। उनमें से एक पिप्पल भक्षण कर रहा, और दूसरा कुछ भी न खाकर उसे देख रहा है।" जीव नाना कर्म चक्रों के बीच दुःख का भोग कर रहा है, पर आत्मा निर्विकार भाव से यह सब देख रही है। जीव इन्द्रिय-भोग से श्रान्त होने पर भी उसी के पङ्क में लिप्त रहना चाहता है, पर उसके भीतर एक दूसरा पक्षी वास करता है, जो रवीन्द्रनाथ की भाषा में कहना चाहता है:—

स्येनसम अकस्मात् छिन्न करे, ऊर्द्धे लये जाओ
पङ्ककुण्ड हते,'
महान् मृत्युर साथे मुखोमुखी करे' दाओ मोरे
वज्रेर आलोते *

---

*इस तुच्छ जीवन के पंक-कुण्ड से छिन्न करके मुझे अकस्मात् ...ो, और वज्र की आभा में महामृत्यु के साथ

और गेटे की भाषा में कहता है:—

मेरी दूसरी आत्मा जीवन की तुच्छ धूल से मुक्त होकर सुदूर आकाश की उच्चता में उड़ान भरना चाहती है।

कवियों की इन उक्तियों से स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि जीवन का पंक या धूल (पाप या दुःख) वास्तविक है, और आकाश की उड़ान (पुण्य या सुख) कल्पना अथवा आदर्श है। दुख और पाप का अस्तित्व मनुष्य को पग-पग पर मिलता है, सुख तथा पुण्य की कल्पना उसे हृदय तथा मस्तिष्क द्वारा अनुभूत करनी पड़ती है। पर सुख कल्पना के आधार पर स्थिर होने पर भी मानव का अन्तस्तल यह विश्वास नहीं करना चाहता कि वह मिथ्या है। बल्कि इन्द्रियातीत सुख की यह कल्पना ही उसे 'वास्तविक' सुख से अधिक सत्य प्रतीत होती है। यही कारण है कि प्रतिभाशाली पुरुष इसी काल्पनिक आदर्शस्वरूप सुख को अपना केन्द्रस्थित लक्ष्य बनाते आये हैं। इसी केन्द्र की प्राप्ति के लिये वे अपनी समस्त वृत्तियों को सुसंस्कृत करने की चेष्टा करते हैं। पर इस संस्कृति की पूर्णता प्राप्त करने में उन्हें इन्द्रिय-सम्बन्धी नाना बाधाओं का सामना करना पड़ता है। यहाँ तक कि उनके जीवन में एक स्थिति ऐसी भी है, जब उन्हें दुःख और पाप की उपेक्षा न करके उनको सत्य का एक आवश्यक अंग मानना पड़ता है। पाप की भावना मनुष्य को मृत्यु पर्यन्त नहीं छोड़ सकती। गेटे अपने आत्मचरित्र में लिखता है कि जब पाप और दुःख का भाव जीवात्मा के तल में पैठा है तब उसके कारण हताश होना महान् मूर्खता है। हमें अपनी 'दूसरी आत्मा' की स्वीकृति में तत्पर रहना चाहिये। पाप की भावना को अपना काम अलग करने दो। उसे अधिक महत्व न देने से एक बार ऐसी स्थिति आवेगी जब वह भी तुम्हारी उच्च वृत्तियों की संस्कृति में बाधा पहुँचाने के बदले सहायता देगी।"

पर ये सब कहने की बातें हैं। जिनका स्वभाव अतिवेदनशील तथा

सहृदय है, वे बिना दुःख तथा पाप के भाव से प्रभावित हुए नहीं रह सकते। गेटे ने अपना आत्मचरित अन्तिम जीवन में लिखा था। उस समय कदाचित् उसके स्वभाव में कुछ परिवर्त्तन हो गया हो। पर जीवन भर वह पाप की भावना से तङ्ग रहा। पाप की विभीषिका उसकी रचनाओं में शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों से कम परिमाण में नहीं पाई जाती। फौस्ट का जीवन भी हैमलेट की तरह इसी भावना से नष्ट भ्रष्ट हो गया था। गेटे ने अपनी आत्मा में फौस्ट की यातनाओं का अनुभव किया, इसी कारण उसने उसके व्यर्थ जीवन का क्षुब्ध गर्जन अपनी ट्रेजेडी में इतने सुन्दर रूप से प्रस्फुटित किया है।

पाश्चात्य कवियों ने मानव जीवन की व्यर्थता, दुर्बलता तथा यातनाओं की समस्या उत्थापित तो की है। पर उसका समाधान करने की चेष्टा उन्होंने कहीं नहीं की। शेक्सपीयर के दुखित, पीड़ित तथा आत्म-प्रवञ्चित चरित्रों का व्यर्थ क्रन्दन अपने गर्जन तथा हुङ्कार से आकाश को फाड़ देता है और सारी दुनिया को सिर पर उठा लेता है, पर उनका चिल्लाना अरण्यरोदन के समान है। उसकी कोई सार्थकता नहीं है। पर हमारे कवियों ने दुःख और पाप के भाव को शान्त-रूप से ग्रहण किया है। संसार में जीव नाना दुःख से पीड़ित है, इसमें संदेह नहीं। पर आत्मविद्रोह से उन दुःखों का निवारण कदापि नहीं हो सकता। इसलिए उन लोगों ने निर्विकार भाव से अपना कर्त्तव्य निभाकर नीलकण्ठ महादेव की तरह पाप का विष-पान कर लेने का उपदेश दिया है। अपनी कला में विषाद का भाव उन्होंने दर्शाया है। पर वह विषाद अत्यंत स्निग्ध तथा करुण है। जिस प्रकार एक सुन्दरी, सहृदया, स्नेहशीला तथा कर्त्तव्यपरायणा स्त्री नाना दुःखों का भोग करती हुई भी शांत-रूप से घर-गिरस्थी के सभी काम-काज निभाती रहती है और बिना किसी शिकायत के अनन्त की प्रतीक्षा में अपने दिन बिताती है, उसी प्रकार हमारे कवियों ने (कालिदास आदि ने) जीवन के समस्त पाप और दुःखों को निर्वि-

कार भाव से सहन करके स्निग्ध करुण का स्रोत बहाया है और मधुर आनन्द का आभास दिया है।

दुःख और पाप की यातना को व्यर्थ न समझकर हमारे कवियों ने उसकी सार्थकता त्याग के भाव में दिखलाई है। दुःख की यातना एक ऐसी प्रचंड शक्ति है, जो गेटे के कथनानुसार वास्तव में मनुष्य को उन्नति की ओर प्रेरित करती है। जो व्यक्ति जितने अधिक परिमाण में दुःख तथा विषाद के सागर में डूबा हुआ है, वह उतना ही अधिक उच्चतम आदर्श के प्रति आकर्षित होता जाता है। इसका कारण यह है कि त्याग की महत्ता वही अधिक समझ सकता है। दुष्यन्त और शकुंतला जब दीर्घ विरह की आँच में पूरी तरह तप जाते हैं तब वे त्याग की महत्ता समझने लगते हैं और प्रेम की महिमा का मर्म जान कर अनंत के बंधन में, स्वर्गीय स्नेहपाश से बँध जाते हैं। यह बंधन ही वास्तविक मुक्ति है। तुच्छ जीवन से त्राण इसी के द्वारा मिलता है। गरज यह कि दुःख के धक्के से ही मनुष्य की आत्मा जागरित होकर अपना वास्तविक स्वरूप समझ पाती है। दुख रूपी पिप्पल का फल चखकर जब उसे वितृष्णा हो जाती है, तब वह अपने साथी 'दूसरी आतमा' का आंतरिक रहस्य समझने में समर्थ होता है!

ईसाई धर्म का मूल भाव भी दुःख-द्वारा अनुभूति इसी त्याग के भाव में स्थित है। "वे लोग धन्य हैं जो दुःख और शोक में मग्न हैं, क्योंकि उन्हें सांत्वना प्राप्त होगी।" इस वाक्य में दुःख की महत्ता दिखलाई गई है। दुख व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उसके कारण सान्त्वना का आनन्द प्राप्त हो ा है। सुलेमान का सङ्गीत इसी प्राच्य भाव का आभास देता है, जो विरहिणी तथा मुग्ध यत्न प्रिया की तरह अपने करुणा-विह्वल, कोमल हृदय का स्निग्ध विषाद नयन सलिल से आर्द्र तंत्री की पुनः पुनः विस्मृत मूर्च्छना (तान) के द्वारा व्यञ्जित करता है। सुलेमान का यह संगीत उस हृदय का करुण राग है जो अश्रु-विगलित नेत्रों से शांतभाव से प्रियतम के अनंत मिलन की प्रतीक्षा

करता है। समस्त अँग्रेज कवियों में वर्ड्सवर्थ तथा टेनीसन ने ही यह प्राच्यभाव इस तरह से अपनाया है। अत्यंत भयंकर तथा निष्ठुरतम प्राकृतिक नियमों को भी इन कवियों ने स्थिरता तथा धैर्य के साथ शांत भाव से ग्रहण किया है। समस्त प्राकृतिक नियमों की जटिलता के भीतर वे एक अपूर्व सामञ्जस्य देख पाये हैं।

'इन मेमोरियम' में टेनीसन ने लिखा है—

"मैं न प्रकृति को अभिशाप देना चाहता हूँ न मृत्यु को, क्योंकि जो महानियम-चक्र सारी सृष्टि को छाये हुए है उसमें कोई भूल नहीं हो सकती।"

शेक्सपीयर के चरित्रों ने इस भाव का रहस्य नहीं समझा था। उनकी आत्मविद्रोही प्रकृति की भीषण झटिका के प्रचण्ड हुङ्कार का यही कारण है।

अन्त में कहा जा सकता है कि अन्धकार तथा विषाद विश्व-प्रकृति के सौंदर्य में स्थिरता तथा गम्भीरत का भाव ला देते हैं। कवि लोग भले ही दुःख की यातना पर केवल उसी की खातिर मर मिटें, किन्तु आनन्द के भाव में पूर्णता प्राप्त करने में ही उसकी सार्थकता है। आनन्द विषाद, पुण्य-पाप, आलोक-अन्धकार, जीवन-मरण ये सब पूर्ण सत्य के ही दो विभिन्न रूप हैं। एक दूसरे के बिना अपूर्ण है। एक भाव प्रतिक्षण मनुष्य को कर्म के लिए प्रेरित कर रहा है, दूसरा अहरह उसे शांति तथा विश्रान्ति के लिए लालायित कर रहा है। एक चंचल है, दूसरा स्तब्ध। एक शक्ति है दूसरा शिव।

१९२८